अस्मत्प्रकाशित-धर्मशास्त्र-कर्मकाण्ड-ग्रन्थाः—

॥ श्रीः ॥

हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला

१८३

श्री पिङ्गलाचार्यविरचितम्

पिङ्गलच्छन्दःसूत्रम्

हलायुधवृत्तिसहितं

(वैदिकच्छन्दःप्रकरणान्तम्)

व्याकरणाचार्यश्रीअयोध्यानाथसान्यालशर्मरचितया

कादम्बिनी भाषाटीकया टिप्पण्या च सहितम् ।

व्याकरणसाहित्याचार्यन्यायशास्त्रिणा

श्रीरामगोविन्दशर्मशुक्लेन प्राक्कथनेन

समलङ्कृत्य सम्पादितम् ।

प्रकाशकः

जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः,

चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस

विद्याविलास प्रेस, बनारस सिटी ।

सं० २००४] मूल्य ।।।) [ई० १९४७

[*Registered According to Act XXV of 1867.*]

PRINTED BY
JAYA KRISHNA DAS GUPTA
VIDYA VILAS PRESS, BENARES CITY.
1947

श्रीरामेश्वरःशरणम्

प्राक्कथनम्

वेदोंको ही शब्दप्रमाण माननेवाले परं प्रमाण मानते हैं। क्योंकि वेद अनादि अपौरुषेय ईश्वरीयज्ञान हैं। जैमिन्यादि महर्षियोंने भी अनुमानका वहीं आदर किया है जहां पर वेद विरोध नहीं पड़ता। इससे यह सिद्ध होजाता है कि वेद स्वयं सबको प्रमाणित (प्रतिष्ठित) करता है उसको प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। किसी भी विद्वान्ने अनुमानका सर्वत्र आश्रयण नहीं किया है। क्योंकि कुछ स्थानोंको समतल देखकर सब स्थानोंको समतलका अनुमान करके विषमपथपर दौड़ने वाला अन्धा जैसे गिरे विना नहीं रहता वैसे सर्वत्र अनुमान का आश्रयण करनेवाला व्यक्ति कभी भी धोखेमें पड़े विना नहीं रह सकता। **हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमेपथि धावता। अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः।** अतः शुष्क तर्क द्वारा वेद प्रामाण्य का निश्चय करना भारी भूल है। क्योंकि वेद अपने लिए स्वयं प्रमाण है। इसपर यह शंका उठती हैं कि **सोमेन यजति** इस वेद वाक्यसे सोम यागका विधान किया है। यदि सोमयाग से ही स्वर्गादि फल मिलते तो मनो सोम पी जानेवाले कभी स्वर्ग चले गए होते। अतः वे जब स्वर्ग नहीं जा सकते तो यज्ञके सोममें स्वर्ग भेजने का सामर्थ्य कहां से आया? **यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत्। पीतं न गमयेत्, स्वर्गं किं तत्क्रतुगतं नयेत्।** (व्या० म० भाष्य१।१।१) किन्तु जैसे रूपरस गन्धादि प्रत्येक या क्षिति जल वह्नि पवनादि प्रत्येक पृथक् पृथक् कुछ भी कार्य नहीं करसकते। मिलने पर आम्र फल सा फल तैयार होता है और उसे सब आदर करते हैं। इसी तरह विषफल तैयार होता है जो घातक बनता है। इसी प्रकार सोम भी यज्ञमें पीने से स्वर्ग अवश्य उत्पन्न करता है।

संसारके प्रत्येक पद या पदार्थोंमें एक शक्ति निहित है। क्योंकि किसी शब्द के सुननेसे हर्ष किसी शब्दके सुनने से दुःख, किसीसे विषापहरण होता है। इसी प्रकार आम्रफल और विषफल दोनोंमें एक विचित्र शक्ति देखी गई है। इसमें कहीं दृष्ट फल कहीं अदृष्ट फल होता है। सर्पके काटलेनेपर मन्त्रद्वारा सर्प विषापहरण होता है। भूताविष्ट व्यक्ति स्वस्थ होता है। इसी तरह कारीरी यागसे वृष्टि देखी गई है, पुत्रेष्टिसे महाराज दशरथने भगवान् श्रीरामचन्द्रको अपना पुत्र बनाया है। ऐसी अवस्थामें यागका स्वर्गादि अदृष्ट फल अवश्य ही मानना पड़ता है। अतः दृष्टाऽदृष्टफलद्वारा वेद प्राणीका उपकारक है यह सिद्ध हुवा। धर्मशास्त्रियोंने 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडंगो वेदोध्येयो ज्ञेयश्च' कहा है। वेदका अङ्ग सहित अध्ययन ही दृष्टाऽदृष्ट फलका उत्पादक बन सकता है। क्योंकि अनुष्टुभा ऋचा यजति, बृहत्या ऋचा गायति, गायत्र्या ऋचा स्तौति, इत्यादि वाक्योंके श्रवणके बाद यह जिज्ञासा होती है कि अनुष्टुप्, बृहती, गायत्री क्या वस्तु है। इस जिज्ञासाको दूर करने का प्रयास महर्षियोंने किया है। ऋषियोंके ज्ञान भी वेद मूलक ही हैं। **ऋषीणामपियज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्।** (वाक्यप. १।३०।) ठीक भी है। आजन्म वेदार्थ परिशीलनाध्ययनाध्यापनमें समय बिताने वाले महर्षि नहीं वेदके छन्द और अर्थको पहचानेंगे तो क्या जीवन भर विदेशी भाषा पढ़ने वाले लम्पट पहचानेंगे।

हाँ, तो अनुष्टुवादि छन्दोंके महर्षियों द्वारा लक्षण बने हैं। वे सब वेदाङ्ग हैं-क्योंकि व्याकरण शास्त्रके रचयिता भगवान् पाणिनिने कहा है कि "छन्दः पादौ तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्" अतः वेद का पाद छन्द है यह सिद्ध हुवा। विना पैरके चलनाही कठिन है अतः छन्दः शास्त्र का अध्ययन अनिवार्य सिद्ध हुवा।

श्रुतिने तो छन्दः ज्ञानके विना वेदाध्ययनभी पाप बतलाया है जैसे-(**योह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतविनियोगेन ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स स्थाणुं वर्च्छति गर्त्तं वा पद्यते प्रमीयते वा पापीयान् भवति यातयामान्यस्यच्छन्दांसि भवन्ति**" (छान्दोग्यब्रा. ३।७।५।)

ऐतरेय ब्राह्मणमें भी—

"सर्वैश्छन्दोभिर्यजेदित्याहुः, सर्वैर्वै छन्दोभिरिष्ट्वा देवाः स्वर्गंलोकमजयं स्तथैवेतद्यजमानः सर्वश्छन्दोभिरिष्ट्वा स्वर्गं लोकं जयति। (ऐ. ब्रा. २।३।)

महर्षि कात्यायनने भी कहा है—

छन्दांसि गायत्र्यादीनि एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते तस्य निर्वीर्यं यातयाम भवति। अथान्तराश्वगर्तं वा पद्यते स्थाणुंवर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति। (सर्वानुक्रमसूत्र) बृहद्देवतामें भी (८।१३२७ मे कहा है।

अविदित्वा ऋर्षि छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः॥

इन उक्त प्रमाणोंसे भी यही सिद्ध हुवा कि वेदका अध्ययनाध्यापन जप भी छन्दज्ञानके विना करना उत्तम नहीं है। अतः प्रतिदिन सन्ध्यावन्दन करनेवालेको भी छन्दः ज्ञान आवश्यक है।

छन्दः शब्द विचार

मैंने ऊपर छन्द शब्दका अर्थ नहीं कहा अतः यहां छन्दः शब्दका विचार कर रहा हूँ। यास्काचार्यने निरुक्तके (अ·७ पा ३ खं·१२) में **छन्दांसि छादनात्** विवरण किया हैं। जिससे छादन करने के कारण छन्द कहे जाते हैं यह अर्थ प्रतीत होता है। यद्यपि-**'घटाच्छादितः-प्रदीपः, वस्त्राच्छादितं द्रव्यम्'** इत्यादि प्रयोगोंमें छदि धातुका तिरोधानही अर्थ देखा गया है तथापि **अन्नं छादयेदाज्येन** इत्यादि प्रयोगोंके दर्शनसे तिरोधानके अलावा अन्यार्थ भी प्रतीत होता है। छान्दोग्यप्रकरणमें तो (**छदैभिरात्मानमाच्छादयन् देवाः मृत्योर्बिभ्यतः तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्**) देवोंके स्वरूप का रक्षक माना गया है।

छन्दः भेद विचार

छन्द दो प्रकार के होते हैं वैदिक और लौकिक। वैदिक छन्दों का उपयोग केवल वेदार्थज्ञानमें उपयोगी होता है और लौकिक छन्द संस्कृत या हिन्दी साहित्यादि के निर्माण के काम में लाए जाते हैं। समुपलब्ध छन्दः शास्त्रोंमें महर्षि पिङ्गलाचार्य का विरचित छन्दः शास्त्र ही सर्व प्राचीन होने के कारण तथा अत्यन्त उपयोगी होने के कारण प्रसस्त है।

यद्यपि कुछ लोगों का सिद्धान्त है कि इसके पहले भी कुछ आचार्य हो चुके हैं। जिसमें **उरो बृहती यास्कस्य** इस पिंगलसूत्र से यास्काचार्य मालूम पड़ते हैं। तथापि काकदन्त परीक्षा की तरह हम इसपर विचार नहीं कर रहे हैं।

वर्ण विचार

वर्ण दो प्रकार के होते हैं। गुरु और लघु। यही वर्णद्वय छन्दः शास्त्र के मूलाधार हैं। पिङ्गलशास्त्रमें गुरु और लघु वर्ण से ही समस्त कार्य सिद्ध होता है। इन्हीं के संयोग से गण बनते हैं।

गुरु लघु विचार

दीर्घ अक्षरको गुरु और ह्रस्व अक्षरको लघु कहते हैं। महर्षि पाणिनिने भी ह्रस्वं लघु ।१।४।१०। दीर्घञ्च ।१।४।१२ सूत्रों द्वारा लघुवर्ण की ह्रस्व और दीर्घ वर्ण की गुरु संज्ञा का विधान किया है। इसी प्रकार संयोगे गुरु ।१।४।११। सूत्र द्वारा संयोगमें भी गुरुका अतिदेश करते हैं। आचार्य पिङ्गलके मतसे अनुस्वार विसर्गयुक्त पादान्तस्थ वर्ण भी गुरु होता है। इसी बातको कालिदास जीने अपने श्रुतबोधनामक स्वरूप छन्दः ग्रन्थमें लिखा है।

संयुक्ताद्यं दीर्घं सानुस्वारं विसर्गसम्मिश्रम्।
विज्ञेयमक्षरं गुरु पादान्तस्थं विकल्पेन ॥

गुरु लघु परिचायक संकेत

(ऽ) रेखासे गुरु और (।) इस रेखासे लघुका ज्ञान कियाजाता है।

मात्रा विचार

वर्णके उच्चारणमें जो काल लगता है उसे मात्रा कहते हैं। जिसके उच्चारणमें अल्पकाल लगता है उसे लघु एवं जिसमें अधिक काल लगता है उसे गुरु कहते हैं। इसी लिए (एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घउच्यते) इस वाक्य द्वारा ह्रस्ववर्णमें एकमात्रा एवं दीर्घ वर्णमें दो मात्राका निर्णय किया गया है। यद्यपि व्यञ्जनंचार्धमात्रिकं त्रिमात्रोप्लुतविज्ञेयः, इन वचनोंके प्रमाणसे व्यञ्जनकी आधीमात्रा तथाप्लुतकी तीनमात्रा मानना चाहिए। तथापि आचार्य पिंगलके सिद्धान्तमें इनका परिगणन नहीं है। यह व्यवस्था केवल व्याकरण शास्त्रमें ही लगी है। संगीतशास्त्रवाले भी इसका आदर करते हैं।

गण विचारः

तीन वर्णके समूहको गण कहते हैं। वे आठप्रकारके होते हैं। **मगणो यगणश्चैव सगणो रगणस्तथा। जगणस्तगणश्चापि भगणो नगणोऽप्यथ।** श्रुतबोध। इस प्रकार इनके लक्षणभी अनुष्टप्छन्दमें किए गए हैं। जैसे

आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्।
यरता लाघवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम् ॥

अर्थात् भ = भगण, ज = जगण, स = सगण, क्रमसे आदि, मध्य और अन्त्यमें गुरु होते हैं। शेष लघु संज्ञक वर्ण होते हैं। य = यगण, र = रगण, त = तगण क्रमसे आदि मध्य और अन्त्यमें लघु होते हैं। म = मगणके सब अक्षर गुरु एवं न = नगणके सब अक्षर लघु होते हैं।

इसी बातको किसीने स्पष्ट कर दिया है—जैसे—

मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः।
जो गुरुमध्यगतो रलमध्यः सोन्तगुरुः कथितोऽन्त लघुस्तः।

भगवान् पिङ्गलाचार्यने स्वरचित सूत्रोंका मगणादिक्रमसे ही निर्माण किया है। जिसमें मुख्य दो कारण हैं, एक तो मगण सर्व गुरु होता है। अतः ग्रन्थ आदरणीय बने यह अभिलाषा। दूसरा मगण गणका फल लक्ष्मी विस्तार समझ कर किया गया है।

गणों के देवता और उनका फल

यद्यपि यह ही कोष्टमें प्रथमाध्यायके अन्तमें टीकामें लिख दिया गया है तथापि अभ्यास के लिए एक संग्रह श्लोक लिखरहा हूँ। जिसके आधारपर गणचक्र बनाया गया है।

मो भूमिः श्रियमातनोति य जलं वृद्धिं र चाग्निर्मृतिम्।
सो वायुः परदेशदूरगमनं, त व्योमशून्यं फलम्।
जः सूर्यो रुजमाददाति विपुलं, भेन्दुर्यशो निर्मलम्।
नो नाकश्च सुखप्रदः फलमिदं प्राहुर्गणानां बुधाः।

पिङ्गलच्छन्दः सूत्र

आचार्य पिंगलने अपने सूत्रमें वैदिक और लौकिक दो प्रकरण बनाए हैं। जिसमें चतुर्थ अध्यायके सप्तम सूत्र तक वैदिक प्रकरण एवं उसके बाद अध्याय चतुर्थके आठवें सूत्र से आठवें अध्याय की समाप्ति तक लौकिक छन्दः प्रकरण है।

वैदिक छन्दः प्रकरण की प्राचीनता

आचार्य पिंगलने लौकिक छन्दोंका निर्माण करते समय वैदिक छन्दोंके ज्ञानके लिए उनका भी निरूपण किया। जिससे वेदार्थ ज्ञानमें सहायता प्राप्त हो। किसीने लिखा है कि "पिंगलसूत्रका वैदिक छन्दः प्रकरण अत्यन्त प्राचीन है क्योंकि वैदिक छन्दमें प्रतिपादित सभी छन्द ऋग्वेदादिमें प्रस्तुत हैं। ऋग्वेदसे बढ़कर वैदिक छन्दकी प्राचीनताकी पुष्टि के लिए और क्या प्रमाण हो सकता है।" यह वैदिक इतिहासके विरुद्ध है। विद्वानोंका सिद्धान्त है कि वेद अनादि या ईश्वरीयज्ञान है। दोनों अवस्थामें यह ही मानना पड़ता है कि परमात्माने उन छन्दोंमें ही वेदको सुनाया। अब पहले वेद बना या छन्द वह कौन कह सकता है। ऋग्वेद या किसी वेदमें किसी च्छन्दके रहने से उस च्छन्दकी प्राचीनताका अनुमान नहीं किया जा सकता। आजके हिन्दी कवि मनमानी काव्य बनारहे हैं उनमें कौन छन्द हैं यह कौन जानता है कदाचित् कभी उनकाभी नामोल्लेख किया जाय। शर्माजीके लेखसे यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि ये ऋग्वेद ही सबसे प्राचीन वेद मानते हैं जो संस्कृत इतिहासके विरुद्ध है।

आचार्य पिङ्गलमुनि

पिंगलच्छन्दः सूत्रके रचयिता आचार्य पिंगलमुनिके इस ग्रन्थका संस्कृत-साहित्यमें बहुतही बड़ा स्थान है। आचार्य पिंगलमुनि पिंगलनाम नामसे भी प्रसिद्ध है। इनके विषयमें तीन प्रसिद्ध

नत है। (१) महाभारतके आदि पर्वमें श्रीव्यासजीने **निष्ठानको हेमगुहो नहुषः पिंगलस्तथा।** ३५।९। इस वाक्यसे सर्पसत्रमें जलनेसे बचे हुए सर्पोंके नामोंमें पिंगलका भी नाम आया है। किन्तु यह छन्दः शास्त्रके कर्ता नहीं सिद्ध हो सकते। क्योंकि सर्पसत्रके बचे हुए नागका नाम कहीं मुनित्वेन प्रसिद्ध नहीं है। (२) मत्स्यपुराणके "बोधिनगः सौगमाश्चिन्दोरयोरिकि रेवच" १९६।६ इस वचनसे 'नग' के पुत्र पिंगल सिद्ध होते हैं। अत एव वही पर "शालशायनो हरिवाश्यः पैङ्गलश्च तथैव च"। १९६।३२। यह वचनभी है। इससे पिंगलके पिता पिंगल नामक नगके पुत्र नाग यानी पिंगलनाग हो सकते हैं। वही पिंगल नाग छन्दः शास्त्र के रचयिता भी माने जा सकते हैं। (३) षड्गुरुशिष्यने तो "सुच्यते हि भगवता पिंगलेन पाणिन्यनुजेन क्वचिन्नवकाक्षरवारः (पि. सू. ३।३३।" यह स्वरचित 'वेदार्थ दीपिकामें लिखा है। जिससे पाणिन्यनुज पिंगलाचार्य सिद्ध होते है। इसी बातको प्रमाण सिद्ध करनेके लिए, ज्येष्ठ मातृभि विंहितो व्याकरणेऽनुजस्तत्र भगवान् पिंगलाचार्यस्तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं जानीते" इस वाक्य से पाणिनिके कनिष्ठभ्राता सिद्ध किया है। किन्तु यह बात प्रतीत नहीं होती कि पाणिनिके भ्राता रहे हों पिंगलनाग।

मेरे मतसे तो महर्षिपतञ्जलि ही आचार्य पिंगल है। क्योंकि भगवान् पतञ्जलिके सर्पराज होनेमें किसीको विवाद नहीं है। एक विचित्र विद्वान् भी हो चुके हैं। पुनः समुद्र प्रवेश की बात भी "भुजंगप्रयातं चतुर्भिर्यकरैः, इस सूत्रसे स्पष्ट है। सर्वे सर्वं पदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः' शालातुरीयस्त्वाह, इत्यादि भाष्यके वचनोंसे तथा गोनर्दीयस्त्वाह वह अपने विषयक वचनोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि पाणिनि और भाष्यकार दोनों दो देशके थे। षड्गुरु शिष्यके कथनका तात्पर्य गुरुभ्रातृत्वेन कनिष्ठभ्रातृ व्यवहार यदि मान लिया जाय तो "वर्ष" के कनिष्ठशिष्य होनेसे लघुभ्राता भी माने जासकते हैं। अतः यह ही पक्ष उत्तम है कि महाभाष्यकार पतञ्जलिही पिंगलाचार्य है।

श्रीपिंगलाचार्यका देश

यह कहांके थे यह बताना तो कठिनही है तथापि 'गोनर्दीयस्त्वाह' इस वाक्य से तथा 'गोंडा' इस नामके साम्यसे ये अयोध्याके उत्तर या पश्चिम सरयू तटके निकट कान्यकुब्जदेशके प्रतीत होते हैं। समुद्रतटपर मरनेसे किसीका देश निर्णीत नहीं होता। जापान आदि देशोंमें मरनेवाले किसी नेताका वह ही देश नहीं होता है।

भट्ट हलायुध

भट्ट हलायुध नामक विद्वान् पिंगलछन्दः सूत्रके वृत्तिकार किस देशके थे इस विषयमें अनेक किं वदन्तियां है। जिसमें—

१—बंगदेशके महाराज द्वारा बुलायेजाने वाले पण्डित नारायण भट्टके वंशज हलायुधभट्ट नारायणभट्टकी बारहवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए। तथा लक्ष्मणसेनसिंहके सभापंडित थे।

(पि. छ. सूत्र प्र. छात्र पुस्तकालय कलकत्ता)

२—भट्टहलायुध पिंगलसूत्रके टीकाकार गौड़देशवासी श्रीपुरुषोत्तमभट्टके पुत्र थे। ये दशवीं सदीमें विद्यमान थे।

(हि. वि. कोश, कलकत्ता)

३–इहहि भवति दण्डकारण्य देशे स्थितिः (पिं.सू.वृत्ति०७।३३। तथा पद्माम्बिकातीर्थयात्रागतानेक सिद्धाकुले। पि. सू. वृ. ७।३॥ इन वचनोंसे दाक्षिणात्य प्रतीत होते हैं। छ. निर्ण. प्रे. बम्बई) यह सब विवाद है। किन्तु हलायुधभट्ट रचित–निम्नलिखित श्लोकसे यह सिद्ध होता है कि भट्ट हलायुध नारायण भट्टके पुत्र वंगदेशाधिपति महाराज लक्ष्मणसेनके सभा पण्डित एवं धर्माधिकारी थे। राजालक्ष्मणसेन का समय १०३० शाकाब्द है। अतः इनका भी यही समय कहा जा सकता है।

प्रमाणभूत श्लोक जैसे—

बाल्ये ख्यापितराजपण्डितपदः श्वेतांशुऽबिम्बोज्ज्वलः।
छन्दोक्तिक्तमहामहास्तनुपदं दत्त्वा नयेनोपमे।
यस्मै यौवनशेषयोग्यमखिलक्ष्मापाल नारायणः।
श्रीमाँल्लक्ष्मणसेनसिंहनृपतिर्धर्माधिकारं ददौ।

पिंगलच्छन्दः सूत्रकी उपादेयताके सम्बन्धमें अब कुछ कहना व्यर्थ ही है। भट्ट हलायुधने उस पर मृतसंजीवनी वृत्ति बनाकर स्वर्णसुगन्धका योग भी कर दिया है। यद्यपि इस वृत्तिके रहते किसी प्रकार की टीकाकी आवश्यकता न थी। तथापि; काशी, विहार, बंगाल, पंजाब, अयोध्या पण्डित परिषद् आदि परिक्षावोंमें निर्धारित होनेके कारण मध्यम कक्षाके छात्रोंकी कठिनाइयोंको ध्यानमें रखकर बंगाली पण्डित प्राचीन व्याकरणाचार्य **श्रीअयोध्यानाथ सान्याल** महोदयने **कादम्बिनी** नामकी हिन्दी टीका, तथा उपयुक्त संस्कृत टिप्पणी का निर्माण करके बहुतही उपकार किया है। मैं आशा करता हूँ। कि बालक वर्ग इस ग्रन्थसे विशेष लाभ उठावेंगे। मैंने यद्यपि सावधानीसे ही इस ग्रन्थका संशोधन कार्य किया है तथापि गुणैक पक्षपाती विद्वद्वर्ग मेरी असावधानी तथा प्रेसके छपाई के दोषसे जो दोष रह गए हों उन्हें स्वयं शुद्ध कर अनुगृहीत करेंगे।

मैं चौखम्भा संस्कृत पुस्तकालयके अध्यक्ष श्रेष्ठिप्रवर बाबू जयकृष्णदास गुप्त महोदयको धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने मुझे बुलाकर इस ग्रन्थका संशोधन कार्य सौंपा। जिससे मैं भी कुछ अपने विचार आपके सामने प्रकट कर सका। इसके बाद मैं **पं० रामचन्द्र** झाजीका बहुत ही बड़ा ऋणी हूँ जिन्होंने संशोधन कार्यमें मेरी बहुतही बड़ी सहायता पहुचाया है।

अन्तमें परमकारुणिक भगवान श्री रामचन्द्र जीसे करबद्ध प्रार्थना है कि वे द्विजाति मात्रके हृदयमें छन्दः शास्त्रके स्वाध्यायकी विशेष रुचि उत्पन्न करें।

अक्षय तृतीया
प्रो० संन्यासि–संस्कृत–कालेज,
काशी।
१० मेष २००४ वि०

विदुषामनुचरः
श्रीरामगोविन्द शुक्लः।

॥ श्रीः ॥

श्रीमत्पिङ्गलाचार्यविरचितं

पिङ्गलच्छन्दःसूत्रम्

अथ प्रथमोऽध्यायः ।

धीश्रीस्त्री म् ॥१॥ वरा सा य् ॥२॥ का गुहा र् ॥३॥ वसुधा स् ॥४॥ सा ते क त ॥५॥ कदा स ज् ॥६॥ किं वद भ् ॥७॥ न हस न् ॥८॥ गृ ल् ॥९॥ गन्ते ॥१०॥ ध्रादिपरः ॥११॥ हे ॥१२॥ लौ सः ॥१३॥ ग्लौ ॥१४॥ अष्टौ वसव इति ॥१५॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

छन्दः ॥१॥ गायत्री ॥२॥ दैव्येकम् ॥३॥ आसुरी पञ्चदश ॥४॥ प्राजापत्याष्टौ ॥५॥ यजुषां षट् ॥६॥ साम्नां द्विः ॥७॥ ऋचां त्रिः ॥८॥ द्वौ द्वौ साम्नां वर्धेत ॥९॥ त्रींस्त्रीनृचाम् ॥१०॥ चतुरश्चतुरः प्राजापत्यायाः ॥११॥ एकैकं शेषे ॥१२॥ जह्यादासुरी ॥१३॥ तान्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यः ॥१४॥ तिस्रस्तिस्रः सनाम्न्य एकैका ब्राह्म्यः ॥१५॥ प्राग्यजुषामार्ष्य इति ॥१६॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

पादः ॥१॥ इयादिपूरणः ॥२॥ गायत्र्या वसवः ॥३॥ जगत्या आदित्याः ॥४॥ विराजो दिशः ॥५॥ त्रिष्टुभो रुद्राः ॥६॥ एकद्वित्रिचतुष्पादुक्तपादम् ॥७॥ आद्यं चतुष्पाद्दृतुभिः ॥८॥ क्वचित्त्रिपाद्दृषिभिः ॥९॥ सा पादनिचृत् ॥१०॥ षट्कसप्तकयोर्मध्येऽष्टावतिपादनिचृत् ॥११॥ द्वौ नवकौ षट्कश्च नागी ॥१२॥ विपरीता वाराही ॥१३॥ षट्कसप्तकाष्टकैर्वर्धमाना ॥१४॥ विपरीता प्रतिष्ठा ॥१५॥ तृतीयं द्विपाज्जागतगायत्राभ्याम् ॥१६॥ त्रिपात्त्रैष्टुभैः ॥१७॥ उष्णिग्गायत्रौ जागतश्च ॥१८॥ ककुम्मध्ये चेदन्त्यः ॥१९॥ पुर उष्णिक् पुरः ॥२०॥ परोष्णिक् परः ॥२१॥ चतुष्पाद्दृषिभिः

।।२२।। अनुष्टुब्गायत्रैः ।।२३।। त्रिपात्क्वचिज्जागताभ्यां च ।।२४।। मध्येऽन्ते च ।।२५।। बृहती जागतस्त्रयश्च गायत्राः ।।२६।। पथ्या पूर्वश्चेत्तृतीयः ।।२७।। न्यङ्कुसारिणी द्वितीयः ।।२८।। स्कन्धोग्रीवी क्रौष्टुकेः ।।२९।। उरोबृहती यास्कस्य ।।३०।। उपरिष्टाद्बृहत्यन्ते ।।३१।। पुरस्ताद्बृहती पुरः ।।३२।। क्वचिन्नवकाश्चत्वारः ।।३३।। वैराजौ गायत्रौ च ।।३४।। त्रिभिर्जागतैर्महाबृहती ।।३५।। सतोबृहती ताण्डिनः ।।३६।। पङ्क्तिर्जागतौ गायत्रौ च ।।३७।। पूर्वौ चेदयुजौ सतः पङ्क्तिः ।।३८।। विपरीतौ च ।।३९।। प्रस्तारपङ्क्तिः पुरतः ।।४०।। आस्तारपङ्क्तिः परतः ।।४१।। विष्टारपङ्क्तिरन्तः ।।४२।। संस्तारपङ्क्तिर्बहिः ।।४३।। अक्षरपङ्क्तिः पञ्चकाश्चत्वारः ।।४४।। द्वावप्यल्पशः ।।४५।। पदपङ्क्तिः पञ्च ।।४६।। चतुष्कषट्कौ त्रयश्च ।।४७।। पथ्या पञ्चभिर्गायत्रैः ।।४८।। जगती षड्भिः ।।४९।। एकेन त्रिष्टुब्ज्योतिष्मती ।।५०।। तथा जगती ।।५१।। पुरस्ताज्ज्योतिः प्रथमेन ।।५३।। उपरिष्टाज्ज्योतिरन्त्येन ।।५४।। एकस्मिन्पञ्चके छन्दः शङ्कुमती ।।५५।। षट्के ककुम्म(द्म)ती ।।५६।। त्रिपादणिष्ठमध्या पिपीलिकमध्या ।।५७।। विपरीता यवमध्या ।।५८।। ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ ।।५९।। द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ ।।६०।। आदितः सन्दिग्धे ।।६१।। देवतादितश्च ।।६२।। अग्निः सविता सोमो बृहस्पतिर्मित्रावरुणाविन्द्रो विश्वेदेवा देवताः ।।६३।। स्वराः षड्जादयः ।।६४।। सितसारङ्गपिशङ्गकृष्णनीललोहितगौरा वर्णाः ।।६५।। आग्निवेश्यकाश्यपगौतमाङ्गिरसभार्गवकौशिकवासिष्ठानि गोत्राणि ।।६६।।

इति तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

चतुःशतमुत्कृतिः ।।१।। चतुरश्चतुरस्त्यजेदुत्कृतेः ।।२।। तान्यभिसंख्याप्रेभ्यः कृतिः ।।३।। प्रकृत्या चोपसर्गवर्जितः ।।४।। धृत्यष्टिशक्वरीजगत्यः पृथक्पृथक्पूर्वत एतान्यैवैषाम् ।।६।। द्वितीयं द्वितीयमतितः ।।७।।

इति पिङ्गलच्छन्दःसूत्रे चतुर्थोऽध्याये वैदिकच्छन्दःप्रकरणं समाप्तम् ।। ४ ।।

पिङ्गलछन्दःसूत्राणां वर्णक्रमेण सूची ।

प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा-संस्कृत-पुस्तकालय,

बनारस सिटी

•

श्रीः ।

श्रीमत्पिङ्गलाचार्यविरचितं

पिङ्गलच्छन्दःसूत्रम्

हलायुधवृत्तियुत-'कादम्बिनी'-

भाषाटीका सहितम्

प्रथमोऽध्यायः ।

नमस्तुङ्गशिरश्चुम्बिचन्द्रचामरचारवे ।
त्रैलोक्यनगरारम्भमूलस्तम्भाय शम्भवे ॥ १ ॥
श्रीमत्पिङ्गलनागोक्तच्छन्दःशास्त्रमहोदधौ
वृत्तानि मौक्तिकानीव कानिचिद्विचिनोम्यहम् ॥ २ ॥

कादम्बिनी ।

वृत्तिकार (हलायुध भट्ट) स्वरचित वृत्तिकी निर्विघ्न समाप्तिके लिये भगवान शङ्कर का नमस्कारात्मक मंगल करते हैं-जो शंकर भगवान सब देवताओंसे श्रेष्ठ होनेके कारण सबके प्रणम्य हैं, अत्यन्त उन्नत जिनके मस्तक हैं ऐसे मस्तक पर चन्द्र रूपी चामरके होनेसे जो सुन्दर प्रतीत होते हैं और तीनों लोक रूपी नगरकी रचना करनेमें जो मूलस्तम्भ नीव या बीजस्वरूप हैं ऐसे भगवानको नमस्कारहै॥ १॥

मैं महर्षि पिङ्गल रचित छन्दःशास्त्र रूपी महासमुद्रमें मोतियोंकी तरह कुछ वृत्तों का संग्रह करता हूं ॥ २ ॥

वेदानां प्रथ(१)माङ्गस्य कवीनां नयनस्य च ।
पिङ्गलाचार्य्यसूत्रस्य मया वृत्तिर्विधास्यते ॥ ३ ॥
क्षीराब्धेरमृतं यद्वदुद्धृतं देवदानवैः ।
छन्दोऽब्धेः पिङ्गलाचार्यैश्छन्दोऽमृतं तथोद्धृतम् ॥४॥

---

(१) छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ कथ्यते । ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते । शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् । इति शिक्षावचने छन्दसः प्रथमोपादानात् प्रथमाङ्गत्वम् ।

जो पिङ्गलसूत्र वेदोंका प्रथम अङ्ग और कविओंका नेत्र है मैं ऐसे पिङ्गल-सूत्रकी वृत्ति बनाऊंगा ॥ ३ ॥

देवता और दैत्योंने क्षीरसमुद्रको मथकर जैसे अमृत निकाला है, उसी प्रकार छन्द समुद्रसे पिङ्गलाचार्यने छन्द रूपी अमृत निकाला है ॥ ४ ॥

मयरसतजभनलगसम्मितं भ्रमति वाङ्मयं जगति यस्य
स जयति पिङ्गलनागः शिवप्रसादाद्विशुद्धमतिः ॥ ५ ॥

भगवान् शङ्करकी कृपासे विशुद्ध बुद्धि ऐसे पिङ्गलनागकी जय हो जिनके वाङ्मय समस्त साहित्य जगतमें म, य, र, स, त, ज, भ, न, ल, और ग ये दश व्याप्त हैं।

विशेषः-तात्पर्य यह है कि प्रत्येक शास्त्रकारने अपने शास्त्रको संक्षेपसे समझाने के लिए पृथक २ संकेतका निरूपण किया है, जैसे व्याकरण शास्त्रमें अक्, अच्, अण् आदि पदोंके द्वारा अ इ उ आदि अनेक वर्णोंका बोध होता है और इन संक्षेपसे वर्णबोधक पदोंको प्रत्याहार कहा जाता है उसी प्रकार छन्दशास्त्रमें संक्षेपसे गुरु लघुबोधक पदोंको गण कहा जाता है। तीन २ अक्षरोंका एक गण होता है ये गण कुल आठ हैं।

जैसे तीनों अक्षरोंके सभी अक्षर गुरु हैं इसका ज्ञान एक 'म' वर्णसे हो जाता है इसे मगण कहते हैं इसी प्रकार यगण, रगण, सगण, तगण, जगण, भगण और नगणको समझना चाहिये।

कितने गुरु या लघु होनेसे कौन २ गण होता है इसे आगेके श्लोकोंसे वृत्तिकार और शास्त्रों द्वारा सूत्रकार सविस्तर वर्णन करेंगे। केवल एक अक्षर का गुरु या लघु बोधक ग् और ल् वर्ण है अर्थात् जहां ग् या ल् से निर्देश किया जाय वहां एक ही अक्षरको गुरु या लघु समझना चाहिये ॥५॥

त्रिगुरुं विद्धि मकारं लघ्वादिसमन्वितं यकाराख्यम्।
लघुमध्यमंचरेफं सकारमन्ते गुरुनिबद्धम् ॥ ६ ॥

जिसमें तीनों गुरु हों उसे मगण, जिसमें आदि लघु और दो अक्षर गुरु उसे यगण, जिसमें आदि और अन्तके अक्षर गुरु तथा मध्यके अक्षर लघु हों उसे रगण, और आदि के दो अक्षर लघु तथा अन्तके एक अक्षर गुरु जिसमें हों उसे सगण कहते हैं ॥ ६ ॥

लघ्वन्त्यं हि तकारं जकारमुभयोर्लघुं विजानीयात्।

आदिगुरुश्च भकारं नकारमिहपैङ्गले त्रिलघुम् ॥ ७ ॥

जिसमें आदि, मध्य गुरु तथा अन्त में लघु हो उसे तगण, आदि मध्य गुरु और अन्त में लघु हो उसे जगण, जिसमें आदिके अक्षर गुरु हों शेष लघु हों उसे मगण और जिसमें तीनों अक्षर लघु हों उसे नगण समझो।

तात्पर्य यह है कि आदि गुरु मगण, मध्यगुरु जगण, अन्तगुरु सगण, आदि लघु यगण, मध्यगुरु रगण, अन्तलघु तगण, तीनों अक्षर गुरु मगण, और तीनों लघु नगण होता है ॥ ७ ॥

दीर्घं संयोगपरं तथा प्लुतं व्यञ्जनान्त(१)मुष्मान्तम् ।
सानुस्वारश्च गुरुं क्वचिदवसानेऽपि लघ्वन्त्यम् ॥ ८ ॥
आदिमध्यावसानेषु यरता यान्ति लाघवम् ।
भजसा गौरवं यान्ति मनौ तु गुरु लाघवम् ॥ ९ ॥

दीर्घ, संयुक्तवर्ण परे रहते पूर्व ह्रस्ववर्ण, प्लुत, व्यञ्जन वर्ण के पूर्व ह्रस्ववर्ण, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के पूर्व वर्ण को गुरु समझना चाहिये ।८।

आदि लघु यगण, मध्यलघु रगण, अन्तलघु तगण, आदि गुरु भगण, मध्य गुरु जगण, अन्तगुरु सगण, तीनों गुरु मगण और तीनों लघु नगण होते हैं ॥९॥

त्रिविरामं दशवर्णं षण्मात्रमुवाच पिङ्गलः सूत्रम् ।
छन्दोवर्गपदार्थप्रत्ययहेतोश्च शास्त्रादौ ॥ १० ॥

इस श्लोकसे वृत्तिकार प्रथमसूत्र धी, श्री, स्त्री, म्, का तात्पर्य्य वर्णन कर रहे हैं। इसमें धी, श्री, स्त्री, तीन विराम हैं, ध, ई, श, र्, ई स्, त् र्, ये दशवर्ण हैं, और धी–दो मात्रा, श्री–दो मात्रा स्त्री–दो मात्रा इस प्रकार छःमात्रा हैं।

तीन विरामों से तीन प्रकार का छन्द रूपी पदार्थ सूचित किया गया है। छन्दके तीन भेद है, लौकिक, वैदिक और उभयसाधारण। अथवा गण छन्द, मात्रा छन्द और अक्षर छन्द। दशवर्णोंके द्वारा म, य, र, स, त, ज, भ, न, ग, और ल इन वर्गवर्ग रूप पदार्थकी सूचना दे रहे हैं। छः मात्राओं से आठवें अध्याय में वर्णित प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, एकद्व्यादिलगक्रिया, सन्त्यान, अध्वयोग, नामक छः प्रत्यय सूचित हो रहे हैं ॥ १० ॥

---

(१) व्यञ्जनान्तमित्यनेनैव गतार्थत्वे उष्मान्त ग्रहणं विसर्जनीयस्य तदुत्पन्न जिह्वामूलीयोपध्मानीययोरप्युपलक्षणार्थम्। विसर्जनीयपरोऽप्युष्मशब्दोविद्यते। तथा च पाणिनीयशिक्षायाम्–ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसारेफ एव च। जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः।

इह हि त्रैवर्णि(१)कानां साङ्गवेदाध्ययनमाम्नायते। अर्थावबोधपर्यन्तश्चाध्ययनविधिः। वेदाङ्गञ्च छन्दः ततस्तदध्ययनं विधिबोधित(२)त्वादनुष्ठेयम्। अथ त्रिष्टुभा यजति, बृहत्या गायति, गायत्र्या स्तौतीत्येवमादिश्रवणादर्थायातमनुष्टुबादिज्ञानम्। किञ्च छन्दसामपरिज्ञानात् प्रत्युत प्रत्यवायः श्रूयते। यथा—'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतविनियोगेन ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति स स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा, पतति प्रमीयते वा पापीयान् भवति, यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति।' (छ० ब्रा० ३।७।५) तस्माच्छन्दःपरिज्ञानं कर्तव्यम् तदर्थमिदं शास्त्रमारभ्यते। तत्र लघुनोपायेन शास्त्रावबोधसिद्ध्यर्थं संज्ञाः परिभाषते सूत्रकारः—

इस शास्त्रमें त्रैवर्णिक को ही छः अङ्गो के सहित अध्ययन कहा जाता है अध्ययन का प्रयोजन(२) अर्थ ज्ञान ही है छन्द भी वेदाङ्ग हैं अतः इसका भी अध्ययन वेद में कहे गए अधिकारी को ही कहा गया है।

विशेषः—स्वाध्यायोऽध्येतव्य, इस वेदवाक्य से वेद का अध्ययन गुरु के द्वारा करके समावर्तन संस्कार करें यह प्रतीत होता है। यद्यपि वेदाध्ययन विधि में फल विशेषके श्रवण न होने से इसका फल विश्वजित, यज्ञ की तरह (स स्वर्गः सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्) इस सूत्र से अदृष्ट मानना चाहिए था तथापि अदृष्ट(४) फल कल्पनापेक्षया अर्थज्ञान रूप दृष्ट फल मानना उत्तम है यह मीमांसाशास्त्रका निर्णय है किसको पढ़ावे इस प्रश्न पर 'उपनीतमध्यापयीत' इस वाक्य से उपनयन संस्कार वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको पढ़ावे यह सिद्ध होता है। और "स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचराः" इस वाक्य से भी त्रैवर्णिक को ही वेद पढ़ने का अधिकार सिद्ध हुआ।

---

(१) वसन्ते ब्राह्मणमुपानयीत, ग्रीष्मे राजन्यं, शरदि वैश्यमिति श्रुतिः। अनया ब्राह्मणादीनामुपनयने अधिकारित्वबोधनात्।

(२) उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेदिति स्मृतेश्च उपनीतस्यैवाधिकारः।

(३) स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत् अधीत्यवेदं न विजानाति योऽर्थम्। नि, अ, १, पा, ३, ख, १८।

(४) सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्।

और त्रिष्टुभा यजति, बृहत्या गायति, गायत्र्या स्तौति । अर्थात् अनुष्टुप् से यागकरे । बृहती से सामगान करे और गायत्री से स्तुति करे, इस प्रकार श्रुति मिलती है। छन्दः शास्त्रके ज्ञानके विना अनुष्टुप् आदि का ज्ञान होना असम्भव है और अनुष्टुप् आदिके ज्ञान हुए विना उल्लिखित श्रुतियोंका अर्थ किस प्रकार मालूम हो सकता है, इसलिये यह सिद्ध हुआ कि अनुष्टुप् आदि के ज्ञान के लिये छन्दःशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है ।

विशेषः-जैसे सन्ध्योपासन आदि नित्यकर्मके अनुष्ठान न करनेसे प्रत्यवाय होता है उसी प्रकार ज्ञानके विना याग कराना या वेद पढ़ाना प्रत्यवाय जनक है । जिस मन्त्रका ब्राह्मणसे याग कराना हो या जिन मन्त्रों को पढ़ाना हो उन मन्त्र या ब्राह्मणोंका ऋषि, देवता, छन्द और विनियोगको जाने विना जो याग कराता है या पढ़ाता है वह वृक्ष योनिको प्राप्त होता है या नरकमें जाता है या वेदोक्त आयुको प्राप्त नहीं करता है, वह अत्यन्त पापी होता है । उसके पढ़े हुए वेद फलोत्पत्ति करनेमें असमर्थ हैं । इस लिये छन्दःशास्त्रका ज्ञान परम आवश्यक है । इसी लिये छन्दःशास्त्रका आरम्भ किया जाता है ।

धीश्रीस्त्रीम् ॥ १ ॥

धीश्रीस्त्री इत्यनेन गुरुत्रयं संज्ञित्वेनोपलक्षयति, मकारश्च संज्ञात्वेन । ततश्चायमर्थः—सर्वगुरोस्त्रिकस्य (ऽऽऽ) 'म' इति संज्ञा परिभाष्यते । ध्यादीनामुपादानप्रयोजनमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः । मप्रदेशाः 'विद्युन्माला मौ गौ' (पि० सू० ६।६) इत्येवमादयः ॥१॥

अब लघु उपायके द्वारा शास्त्रज्ञानके लिए सूत्रकार छन्दःशास्त्रका सङ्केत बना रहे हैं । इनमें म, य, र, स, त, भ, ज, ग और ल इन दश अक्षरोंसे छन्दः शास्त्रके सभी सङ्केत दिखलाये गये हैं। इस सूत्रसे लेकर "न, हस, न्" सूत्र तक मगण आदि आठों गणकी संज्ञा की है । तीन अक्षरोंका एकगण होता है । इस सूत्रमें धी श्री स्त्री ये तीनों अक्षर तीन गुरुओंका बोधक है और तीनों गुरुओं को 'म' संज्ञा करनेके कारण वह संज्ञी है और 'म' संज्ञा है । इस लिये इस सूत्र का अर्थ यह हुआ कि जिन तीनों अक्षरोंके सबके सब गुरु हो उसे मगण कहतेहैं॥

जैसे धी श्री स्त्री ये तीनों अक्षर गुरु होनेके कारण मगण हुआ । प्रत्येक शास्त्रमें लघु उपायसे व्यवहार सिद्धिके लिये सङ्केत किया जाता है इसलिये

जिन स्थानोंमें 'म' व्यवहार किया गया है वहां पर ही इसका प्रयोजन समझना चाहिये जैसे "विद्युन्माला मौ गौ" इस सूत्र का अर्थ है कि जहां पर दो मगण और दो गुरु हो उसे विद्युन्माला छन्द कहते है "म"से तीन गुरुसमझना चाहिये अर्थात् आठ गुरु S S S S S S S S जिसमे हो उसे विद्युन्माला कहते हैं। यदि संज्ञा नहीं की जाती तो इतने कमशब्दोंमे इतना अधिक अर्थ नहीं समझाया जा सकता। धी आदि शब्दों के द्वारा क्यों निर्देश किया गया है इसका तात्पर्य वृत्तिकार स्वयं सूत्रार्थ मे कहेगें ॥ १ ॥

वरासा य् ॥ २ ॥

वरासा इत्यनेनादिलघोस्त्रिकस्य (।SS) 'य' इति संज्ञा परिभाष्यते। यप्रदेशाः 'भुजङ्गप्रयातं यः' (पि० सू० ६।३६) इत्येवमादयः

इस सूत्र मे आदिलघु और बाकी दो गुरु को ही "वरासा" इन अक्षरों से निर्देश किया गया है अर्थात् जहांपर आदि के अक्षर लघु और दो बाकी अक्षर गुरु हो उसे यगण कहते है। जैसेः—

व रा सा यह यगण हुआ। जिस सूत्रमें 'य' से व्यवहार किया जायगा वहां पर 'य' का अर्थ आदिके एक अक्षर लघु और बाकी दो गुरु ऐसा समझना चाहिये "भुजङ्ग प्रयातं यः" इत्यादिसूत्रों में ही इसका व्यवहार किया गया है। चार

य य य य

यगण अर्थात् । S S । S S । S S । S S जिसके पहला चौथा सातवां और दशवां अक्षर लघु हो बाकी अक्षर गुरु वह भुजङ्गप्रयात कहलाता है।

। S S । S S । S S । S S
भुजङ्ग प्रयातं भवेद्येश्चतुर्भि। वृत्तरत्नाकर ॥ २ ॥

का गुहा र् ॥ ३ ॥

कागुहा इत्यनेन मध्यलघोस्त्रिकस्य (S।S) 'र' इति संज्ञा परिभाष्यते। रप्रदेशाः 'स्त्रग्विणी रः' (पि० सू० ६।३७) इत्येवमादायः॥

इस सूत्र मे मध्यलघु और बाकी दो गुरु को ही कागुह इन अक्षरों से निर्देश किया गया है अर्थात् जहांपर मध्य के अक्षर लघु और वाकी आदि अन्त के अक्षर गुरुहो तो उसे रगण कहते है। जैसे का गु हा यह यगण का स्वरूप है। जिन सूत्रों में 'र' व्यवहार किया जायगा। वहां पर र का अर्थ मध्य के एक अक्षर लघु और बाकी गुरु ऐसा समझना चाहिये।

"स्रग्विणी रः" (६।३७।) इत्यादि सूत्रों मे इसका व्यवहार किया गया है । चार

र र र र
रगण ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ अर्थात् जिसके एक पादमें दूसरा, पांचवां, आठवां और ग्यारहवां अक्षर लघु हो शेष अक्षर गुरु हो उसे स्रग्विणी छन्द कहा जाता है ॥ ३ ॥

वसुधा स् ॥ ४ ॥

वसुधा इत्यनेनान्त्यगुरोस्त्रिकस्य (।।ऽ) 'स' इति संज्ञा परिभाष्यते । सप्रदेशाः 'तोटकं सः' (पि० सू० ६।३१) इत्येवमादयः ॥

इस सूत्र में अन्त का गुरु और शेष आदि मध्य दो लघु को ही (वसुधा), इन अक्षरों से निर्देश किया गया है । अर्थात् जहां अन्त के अक्षर गुरु और शेष दो अक्षर लघु हो उसे सगण कहते हैं जैसे ।।ऽ यह सगण का स्वरूप है । जिन सूत्रों में (स) से व्यवहार किया जायगा वहां पर (स) का अर्थ अन्तका एक अक्षर गुरु, आदि और मध्यके दो अक्षर लघु ऐसा समझना चाहिये । 'तोटकं सः' (पि. सू. ६।३१) इत्यादि सूत्रों मे इसका व्यवहार किया गया है । चार सगण स/।।ऽ स/।।ऽ स/।।ऽ स/।।ऽ अर्थात् जिसके एक चरणमें तीसरा, छठां, नवां, और बारहवां गुरु हो तथा शेष के अक्षर लघु हो ऐसे १२ अक्षरके पाद वाला छन्द तोटक कहलाता है । तोटकमम्बुधि सैः प्रमितम् । वृत्तरत्नाकर॥४॥

सा ते क त् ॥ ५ ॥

सातेक इत्यनेनान्त्यलघोस्त्रिकस्य (ऽऽ।) 'त' इति संज्ञात्वेनोपादीयते । तप्रदेशाः 'तनुमध्या त्यौ' (पि० सू० ६।२) इत्येवमादयः ॥५॥

अन्तके एक अक्षर लघु और बाकी गुरु को ही 'सा ते क' इन अक्षरों से निर्देश किया गया है अर्थात् जिसमें अन्तका अक्षर लघु, बाकी दो अक्षर, आदि और मध्य के गुरु हों उसे तगण कहते है जैसे ऽऽ। यह तगण का स्वरूप जिन सूत्रों में 'त' से व्यवहार किया जायगा वहां पर 'त' का अर्थ अन्तके एक अक्षर लघु और शेष अक्षर गुरु ऐसा समझना चाहिये । 'तनु मध्यात्यौ' (पि. सू. ६।२) इत्यादि सूत्रों मे ही इसका व्यवहार किया गया है । जिसके एक पाद मे तगण और यगण हो त/ऽऽ। य/।ऽऽ उसे तनुमध्य छन्द कहते हैं ॥५॥

कदास ज् ॥ ६ ॥

कदास इत्यनेन मध्यगुरोस्त्रिकस्य (। ऽ ।) 'ज' इति संज्ञा परिभाष्यते । जप्रदेशाः 'कुमारललिता ज्सौ ग्' (पि० सू० ६।३) इत्येवमादयः ॥ ६ ॥

मध्य के अक्षर गुरु और शेष अक्षर लघु को ही "क दा स" इन अक्षरों से निर्देश किया गया है। अर्थात् जिसमे मध्य के अक्षर गुरु और बाकी आदि और अन्तके अक्षर लघु हो उसे जगण कहते हैं। जैसे । ऽ । यह जगण का स्वरूप है। जिन सूत्रों में "ज" का व्यवहार किया गया वहां पर इसका अर्थ मध्यका अक्षर गुरु और शेष अक्षर लघु ऐसा समझना चाहिये। कुमार ललिता ज्सौ ग (पि. सू ६ । ३) इत्यादि सूत्रों मे 'ज' का प्रयोग किया गया है इसलिये इस सूत्र का अर्थ जिसके एक पाद में जगण और सगण और एक गुरु हो उसे 'कुमारललिता छन्द' कहते हैं ऐसा होता है ॥ ६ ॥

किंवद भ् ॥ ७ ॥

किंवद इत्यनेनादिगुरोस्त्रिकस्य (ऽ । ।) 'भ' इति संज्ञा ज्ञाप्यते । भप्रदेशाः 'चित्रपदा भौ गौ' (पि० सू० ६।५) इत्येव मादयः ॥ ७ ॥

किंवद इन अक्षरों से आदि गुरु और अवशिष्ट लघु को ही निर्देश किया जाता है। अर्थात् आदि के एक अक्षर गुरु और शेष दो, मध्य और अन्तके अक्षर लघु हो उसे भगण कहते हैं। जैसे ऽ।। यह भगण का स्वरूप हैं। जिन सूत्रों में 'भ' से व्यवहार किया जाय वहां पर इसका अर्थ, आदि के अक्षर गुरु और अवशिष्ठ अक्षर लघु ऐसा समझना चाहिये।

"चित्रवदा भौ गौ" (पि. सू।६।५) इत्यादि सूत्रों में इसका प्रयोग किया गया है। दो भगण और दो गुरु जिसके एक पाद मे हो उसे चित्रपदा छन्द कहते हैं ॥ ७ ॥

नहस न् ॥ ८ ॥

नहस इत्यनेन सर्वलघोस्त्रिकस्य (।।।) 'न' इति संज्ञोपदिश्यते । नप्रदेशाः 'दण्डको नौ रः' (पि० सू० ७।३१) इत्येवमादयः ॥८॥

" न ह स' इन अक्षरों से सब के सब लघुओं का निर्देश किया गया है। अर्थात् तीनों लघु युक्त अक्षर समुदाय को ऐसी संज्ञा की जाती है जैसे "न ह स"

यहा पर तीनों लघु वर्ण होने के कारण नगण कहा जाता है जिन सूत्रोंमें 'न' से व्यवहार किया जाय वहां पर इसका अर्थ तीनों अक्षर लघु ऐसा समझना चाहिये "दण्डको नौ रः' (पि. सू ७।३३) इत्यादि सूत्रों मे इसका प्रयोग किया गया है अर्थात् जिसमे दो नगण और सात रगण हो उसे दण्डक कहते हैं ॥ ८ ॥

इन आठ सूत्रों से पिङ्गलाचार्य ने आठ गणों का स्वरूप निर्देश किया है इसके आगेके सूत्रों से गुरु और लघुका सङ्केत निर्देश किया जायगा ॥ ८ ॥

गृ ल् ॥ ९ ॥

गृ(१) इत्यनेनोपलक्षितस्य ह्रस्वस्य (।) 'ल' इति संज्ञा परिभाष्यते । लशब्दश्च लघुवाचकः । तेन ह्रस्वमक्षरं लघुसंज्ञं भवतीत्येवमर्थः प्रपद्यते । लप्रदेशाः 'लः समुद्रागणः' (पि०सू० ४।१२) इत्येवमादयः

'गृ' यह पद ह्रस्व का बोधक हैं। लोकमें या शास्त्रान्तरमें इससे ह्रस्व का बोध कहीं भी नहीं होता है परन्तु पिङ्गलाचार्य लाघवार्थ विशेष को सामान्यपरक रख कर 'गृ'शब्द से ह्रस्व का बोध कराना चाहते हैं।'ह्रस्वंल्' ऐसा सूत्र यदि होता तो अर्थ स्पष्ट होता परन्तु उसमें तीन मात्राका गौरव समझकर उन्होंने ऐसा नहीं किया। पाणिनि जी ने "ह्रस्वं लघु (पा० १·४·१०) ऐसा ही सूत्र का निर्माण किया है ॥ ९ ॥

गन्ते ॥ १० ॥

गृ-ग्रहणमनुवर्त्तते। गृ-शब्दोपलक्षितस्य ह्रस्वाक्षरस्य पादान्ते वर्त्तमानस्य गुरुसंज्ञातिदिश्यते। 'ग' इति प्रथमाक्षर—प्रतीकेन गुरुशब्दस्य ग्रहणम् ॥

ननु 'ग्लिति समानी' (पि० सू० ५।७) इत्यादीनां पादान्ते वर्त्तमानस्य ह्रस्वस्य गुरुत्वं न दृश्यते। नैष दोषः। सर्वत्र पादान्ते वर्त्तमानस्य ह्रस्वस्य गुरुत्वमुत्सर्गसिद्धम्। तच्च लकारश्रुत्यपवादेन बाध्यते। यथा—'ग्लिति समानी' (पि० सू० ५।७) 'गीत्यार्या लः'

---

(१) गृ इत्यनेन ह्रस्व एव विवक्षितोऽर्थः सोऽपि लाघवार्थः "ह्रस्वं लघु (१–४–१०) इति पाणिनिकृते सूत्रे षड् मात्राः सन्ति। अत्र तु सार्द्धैकमात्रा, पिङ्गलमते एकमात्रैव, व्यञ्जनस्यार्द्धमात्रत्वेनगणना पाणिनेरेवेति महत् लाघवम्। वस्तुतस्तु नहि मात्राकृल्लाघमेवादर्तव्यं किन्तु प्रतिपत्ति लाघवमपीति 'ह्रस्वं लि'त्येव सूत्रयितुमुचितम्।

(पि२ सू० ४।४७) इत्यादौ । सामान्येन विशेषस्य बाधः कस्य न सम्मतः ? तस्मात् कुचोद्यमेतत् ॥

केचिदिदं सूत्रं व्यवस्थितविभाषया व्याचक्षते । 'ग्लिति प्रमाणी' पि० सू० ५।८) इत्यादीनामन्ते गुरुत्वमेव, 'समानी' (पि० सू० ५।७) इत्यादीनामन्ते लघुत्वमेव । तस्मादियं व्यवस्था प्रमाणम् । शेषाणामिच्छया गुरुत्वं लघुत्वं चेति, तदनुपपन्नम् , विकल्पस्याप्रस्तुतत्वात्कस्य व्यवस्थेति न विद्मः ॥

ननु' केनाप्युक्तम् 'वा पादान्ते त्वक्रः' (वृ. र. १।६) इति गुरुत्वम् । सत्यमुक्तम् , दुरुक्तं हि तत् । "वान्ते त्वक्र इति प्रोक्तं यैस्तु(१) श्वेतपटादिभिः । उत्सर्गस्यापवादेन बाधस्तैर्नावधारितः ॥" इत्युक्तेः। इच्छया गुरुत्वं लघुत्वञ्च नोपपद्यते । कस्येच्छा ? किं शास्त्रकारस्य ? कवेर्वा ? । न तावदाद्यः पक्षः, सूत्रेष्वदर्शनात् । नापि द्वितीयः, कवेरपीच्छायां व्यवस्थाभावात् । को जानाति कस्य कीदृशीच्छेति ॥

अन्ये त्वाहुः—ननु पादान्ते वर्त्तमानस्य ह्रस्वस्य पाणिनिना गुरुसंज्ञा न कृता । तेनोक्तम् 'संयोगे गुरु' (पा० सू० १।४।११), 'दीर्घं च' (पा० सू० १।४।१२) इति । नायं संयोगादिर्न च दीर्घः । तस्मात् 'गन्ते' इति सूत्रमयुक्तम् ॥

अत्रोच्यते—पाणिनिना स्वशास्त्रप्रयोजनार्थं गुरुसंज्ञा कृता । 'गुरोश्च हलः' (पा० सू० ३।३।१०३) इत्यकारप्रत्ययो यथा स्यात्—कुण्डा, हुण्डेत्यादौ, ईहाञ्चक्रे, ऊहाञ्चक्रे, इत्येवमादिषु 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (पा० सू० ३।१।३६) इत्याम् प्रत्ययश्च । पादान्ते वर्त्तमानस्य,लघोर्गुरुत्वातिदेशे पाणिनेः प्रयोजनमेव नास्ति । किञ्चानुस्वारादिपूर्वस्य वर्णस्य 'बलम्' 'संपदि'त्यादौ स्थितस्य गुरुसंज्ञा पाणिनिना न कृता, किमेतावताऽन्यैरपि न कर्त्तव्या ? । तस्मात्सूत्रमिदम् 'गन्ते' इति । गप्रदेशाः 'गावन्त आपीडः' (पि० सू० ५।२२) इत्येवमादयः ॥ १० ॥

पिङ्गलने लघु शब्द का एक अक्षर 'ल'को ही लघुवाचक माना है वह जैसे सत्यभामा को सत्य या भामा'से प्रयोग किया जा सकता है उसी तरह लोकसिद्ध है ।

---

(१) जैन विशेषैः ।

अतएव ह्रस्व को ल् संज्ञा होती है यही सूत्रार्थ हुआ। जिस जगह ल् से व्यवहार किया जाय वहांपर ल् का अर्थ ह्रस्व ही समझना चाहिये, इसका प्रयोग 'लः समुद्रागणः' (पि० सू० ४। १२) इत्यादि सूत्रोंमें किया गया हैं।

इस सूत्रमें पूर्व सूत्र से ग् का अनुवर्तन होता है। ग् से ह्रस्व का बोध होता है, यह पूर्व ही कहा जा चुका है। अत एव ग् शब्द से उपलक्षित ह्रस्वाक्षर किसी पादके अन्तमें यदि वर्तमान हो तो उसकी गुरु संज्ञा होती है। गुरु शब्दका जो एक देश 'ग' है यह प्रथमाक्षर है उससे पूर्व सूत्र में कहे हुए की तरह गुरु का ही ग्रहण होता है ऐसा समझना चाहिये।

प्रश्न—इस सूत्र से पाद के अन्त मे स्थित लघु को भी गुरु संज्ञा की जाती है परन्तु ग्लितिसमानि (पि.सू. ५।६।) समानी छन्द मे पाद के अन्त मे भी ह्रस्व देख पड़ता है यह पूर्वापर विरोध क्यों? गन्ते सूत्र के अनुसार वहां पर भी पादान्त लघुको गुरुत्वातिदेशकेरना चाहिये।

उत्तर—एक उत्सर्ग शास्त्र होता है दूसरा अपवाद, शास्त्रान्तर में भी इस तरह की व्यवस्था देखी जाती है। जैसे व्याकरण शास्त्रमे "कर्मण्यण्" (पा०सू० ३-२-१) इस सूत्र में सभी धातुओं से कर्म उपपद रहते अण् प्रत्यय का विधान किया गया है कुम्भकारः, कुण्डलापः इत्यादि उदाहरण हैं।

इस सूत्र के अनुसार उपसर्गरहित आकारान्त धातुओं से भी अण् प्रत्यय प्राप्त हैं परन्तु "आतोऽनुपसर्गे कः' (पा. सू ३-२-३ इल सूत्र में आकारान्त उपसर्गरहित धातुओं से 'क' के विशेष विधान होने के कारण 'गोदः, कम्बलदः' इत्यादि स्थलोंमें 'क' प्रत्यय ही होता हैं 'अण्' नही ऐसे स्थलोंमें 'अण्' प्रत्यय करने से अशुद्ध समझा जाता है।

क्यों कि 'कर्मण्यण्' (पा. सू. ३।२।१।) सूत्र में विशेष धर्म के उल्लेख न होने के कारण धातुमात्र से अण् प्रत्यय प्राप्त है अतः वह सामान्य विधि हैं। और आतोऽनुपसर्गे कः' (पा. सू. ३।२।३।) सूत्रमें आकारान्त उपसर्ग रहित धातु यह विशेष धातुओंके उल्लेख होने के कारण विशेष विधि है। नियम है कि सामान्य शास्त्र का विशेषशास्त्र अपवाद होता है अर्थात् जिस स्थल पर सामान्य और विशेष दोनों नियम प्राप्त हैं वहांपर विशेष नियम ही लागू होता है, सामान्य नहीं।

इस शास्त्रमें भी इस सार्वत्रिक नियम का व्यतिक्रम नहीं किया गया है। अत एव 'गन्ते' इस सूत्रमें विशेष धर्म का उल्लेख न होने के कारण यह पाद के अन्त

स्थित लघुओं को, चाहे वह पाद किसी छन्दका हो, गुरुत्व का अतिदेश करता है परन्तु (ग्लिति समानी (पि. सू. ५।१६। (गीत्यार्यालः) पि. सू. ४।४७) इत्यादि सूत्रों द्वारा 'समानी' 'गीती आर्या' इत्यादि विशेष छन्दों के पादान्त स्थित लघुओंमें लघुत्व के रहने का ही विशेष विधान है। अत वह विशेष शास्त्र है।

इसलिये 'समानी' 'गीती' इत्याति छन्दों में विशेष नियम के अनुसार पादान्त मे भी लघु ही रहता हैं। 'गन्ते' सामान्य सूत्र के अनुसार गुरु नहीं होता

कुछ लोग इस सूत्र को व्यवस्थित विभाषा मानकर उक्त प्रश्न का समाधान करते है उनका कहना हैं कि ग्लिति प्रमाणी (पि. सू. ५।८) सूत्र में प्रमाणी छन्द के पादान्त में गुरुत्व की व्यवस्था है और ग्लिति समानी (५।६) इत्यादि सूत्रों के अनुसार समानी गीती आदि छन्दों के पादान्त मे लघुत्व की व्यवस्था है जहां व्यवस्था नहीं देखी जाती है ऐसे अवशिष्ट स्थलों में इच्छा से गुरु या लघु किसी की व्यवस्था कर लेनी चाहिये ?।

यह समाधान ठीक नहीं जंचता है; क्यों कि विकल्प प्रस्तुत नहीं है। यदि विकल्प प्रस्तुत होता तो उस विकल्प की व्यवस्था की जा सकती थी; परन्तु 'गन्ते' सूत्र पादान्त स्थित लघु को नित्य ही गुरुत्व का अतिदेश करता है। विकल्प कहां से आया जिसकी व्यवस्था करते हो। इसलिये वहां पर गुरु ही होगा और समानी मे लघु ही रहेगा।

वृत्तरत्नाकर आदि ग्रन्थकार और कुछ छन्दोविद् जैन विद्वानों का कहना है कि पादान्त में लघु की गुरु संज्ञा विकल्प से होती है उनके मत से व्यवस्थित विभाषा से समाधान अनुचित नहीं है परन्तु उनलोगोंने उत्सर्गशास्त्र अपवाद शास्त्र से वाधित होता है, इस सार्वत्रिक नियम का विचार नहीं किया है। यदि किसी नियम को न मानकर केवल इच्छा से ही कहीं गुरु और कहीं लघुकी व्यवस्था करोगे तो वह व्यवस्था किसकी इच्छा से होगी, शास्त्रकारकी इच्छासे या कविकी, शास्त्रकार महर्षि पिङ्गल का पादान्त में विकल्प से गुरुत्वविधायक सूत्र न होनेके कारण शास्त्रकारकी इच्छासे गुरुत्व लघुत्व की व्यवस्था नहीं कर सकते हो। कवि की इच्छा से ऐसी व्यवस्था की जा सकती है, ऐसा भी नहीं कह सकते क्यों कि इस स्थल पर अमुक कवि की ऐसी इच्छा थी यह किस प्रकार जान सकोगे। कौन जानता है किस कवि की कैसी इच्छा थी।

कुछ विद्वान् इस सूत्र पर आक्षेप करते हैं उनका कहना है कि महर्षि पाणिनिने

पाद के अन्त स्थित लघु की गुरु संज्ञा नहीं की है उन्हों ने 'संयोगे गुरु (पा. सू. १।४।११ और 'दीर्घं च (पा. सू. १।४।१२) इन दोनों सूत्रों से संयोग से पूर्ववर्ती लघु और दीर्घ इन दोनों को ही गुरु संज्ञा की है। पादान्त स्थित लघुवर्ण न संयोगादि ही हैं और न दीर्घ ही, फिर इन्हे किस प्रकार गुरु संज्ञा करते हो इसलिये 'गन्ते' सूत्र व्यर्थ ही है।

इस पर वृत्तिकार का कहना है कि पाणिनि ने व्याकरण शास्त्र के लक्ष्यों को सिद्ध करने के लिये वैसी ही संज्ञा की और पिङ्गल ने छन्दःशास्त्र के प्रयोजन सिद्ध करने के लिये और तरह संज्ञा की है दोनों का प्रयोजन एक नहीं है फिर संज्ञा किस प्रकार एक हो सकती है।

'गुरोश्च हलः' (पा.सू.३।३।१०३) इत्यादि सूत्रोंसे गुरुसंज्ञकवर्ण जिनमें हो ऐसे व्यञ्जनान्त धातुओं से 'अ' प्रत्यय विधान करनेके लिए पाणिनि ने संयुक्त व्यञ्जनों के पूर्ण वर्णों को गुरु संज्ञा की है। अतएव कुडिदाहे (पा. भ्वा.धा. २७०) 'कुडिवैकल्ये' (भ्वा. धा. ३२२) हुडि 'संघाते' (भ्वा.धा. २६९) 'हुडि वरणे' (भ्वा. धा. २७७) इन धातुओं से 'इदितो नुम् धातोः' (पा. सू. ७।१।५८) से नुम् करने पर 'ण्ड' इन संयुक्त व्यञ्जनों के पूर्व लघु वर्ण के गुरु संज्ञा हो जाने से (गुरोश्च हलः (पा.सू. ३।३।१०३) सूत्र के अनुसार अ। प्रत्यय हो जाता है। और ईकार ऊकारादि इजादि जैसे ईह चेष्टायाम् (भ्वा. धा. ६३२) ऊह वितर्के (भ्वा. धा. ६४८) इत्यादि, धातुओं से 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (पा.सू. ३।१।३६) गुरुसंज्ञकवर्ण है जिसमें ऐसे इजादि धातुओं से आम् प्रत्यय होता है। इस सूत्र के अनुसार दीर्घ की गुरु संज्ञा करने के कारण आम् प्रत्यय हो जानेसे ईहाञ्चक्रे इत्यादि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। संयोगादि और दीर्घ की गुरुसंज्ञा करने का प्रयोजन व्याकरणमें मिलता है परन्तु पादके अन्त स्थित लघु को गुरु संज्ञाकरने का फल व्याकरण शास्त्र मे नहीं है इस लिये पाणिनि ने उनकी गुरु संज्ञा नहीं की है परन्तु छन्दः शास्त्र में प्रयोजन है इसलिये पिङ्गलने पाद के अन्तस्थित लघुकी गुरु संज्ञाकी है। 'बलं' 'संपद्' इत्यादि प्रयोगों मे अनुस्वार विसर्गादि के पूर्व लघुवर्णकी भी गुरु संज्ञा पाणिनि ने प्रयोजन न रहने के कारण नहीं की है; परन्तु छन्दः शास्त्र में प्रयोजन रहने से पिङ्गलने उनकी गुरु संज्ञा की है। अनुस्वारादिपूर्व लघुवर्णों की गुरु संज्ञा पाणिनि ने नहीं की है इसलिये क्या छन्दःशास्त्र के प्रयोजन सिद्धके लिये पिङ्गल को भी उनकी गुरु संज्ञा नहीं करना चाहिये ? इसलिये 'गन्ते' यह सूत्र व्यर्थ

नहीं। पूर्वोक्त आक्षेप सर्वथा निर्मूल है। गावन्त आपीड (पि. सू. ५।२२। इत्यादि में इसका प्रयोजन है ॥ १० ॥

ध्रादिपरः ॥ ११ ॥

ध्र इति व्यञ्जनसंयोगस्योपलक्षणार्थमेतत्। ध्र आदिर्येषां ते ध्रादयः। आदिशब्देन विसर्जनीयानुस्वारजिह्वामूलीयोपध्मानीयानां ग्रहणम्। ध्रादयः परे यस्मात्स ध्रादिपरः। ततश्चायं सूत्रार्थः—व्यञ्जनसंयोगात्पूर्वस्य ह्रस्वस्यानुस्वारविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयेभ्यश्च गुरुसंज्ञातिदिश्यते ॥ ११ ॥

इससे व्यञ्जनों का संयोग लक्षित किया जा रहा है। ध्र अर्थात् व्यञ्जनसंयोग आदि में हो जिनके ऐसे वर्ण आदि से विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वामूलीय और उपध्मानीयों का ग्रहण समझना। अब ध्रादि अर्थात् व्यञ्जन संयुक्त वर्ण, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय आगे हों जिन वर्णों के ऐसे वर्णों की गुरु संज्ञा होती हैं। फलितार्थ यह हुआ कि संयुक्तवर्ण, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय वर्णों से पूर्व लघुवर्ण की गुरु संज्ञा होती है ॥ ११ ॥

हे ॥ १२ ॥

ग इत्यनुवर्तते। हे इति द्विमात्रोपलक्षणार्थम्। ततश्चायं सूत्रार्थः–द्विमात्रिकस्य दीर्घस्य 'ग' इति संज्ञा क्रियते ॥ १२ ॥

गन्ते इस सूत्र से ग का अनुवर्तन होता है। 'हे, इससे द्विमात्र का उपलक्षण समझना, तब सूत्रार्थ यह होता है—द्विमात्र की गुरु संज्ञा होती है ॥ १२ ॥

लौ सः ॥ १३ ॥

स इति गकारस्य परामर्शः। स गकारो द्विमात्रो द्वौ लघू कृत्वा गणयितव्यः ॥ १३ ॥

'स' इससे गकार का परामर्शकर लेना चाहिये,—उस 'ग' अर्थात् गुरुसंज्ञक द्विमात्रिकको दो लघु वर्णों की तरह गिनना चाहिये ॥ १२ ॥

ग्लौ ॥ १४ ॥

अधिकारोऽयमाशास्त्रपरिसमाप्तेः। यत्र विशेषान्तरं न श्रूयते तत्र 'ग्लौ' इत्युपतिष्ठते, 'गायत्र्या वसवः' (पि० सू० ३।३) इत्येवमादिवत्। प्लुतेनेह व्यवहारो नास्ति ॥ १४ ॥

इस शास्त्र की समाप्ति पार्यन्त 'ग्लौ' इस सूत्र का अधिकार रहेगा। अर्थात् जहां पर विशेष विधिका श्रवण न रहेगा वहां पर जैसे गायत्री का पाद कहने से आठ समझा जाता है अर्थात् गायत्री के पादशब्द से आठ की उपस्थिति होती है उसी प्रकार 'ग्लौ' से गुरुलघु की उपस्थिति होगी। परन्तु इस शास्त्रमें प्लुत का व्यवहार नहीं किया जायगा।

जैसे आसुरी पञ्चदश (२।३) सूत्र में वृत्तिकार कहेगें 'तानि च अक्षराणि ग्लौ इत्यधिकारवशात् 'गुरुणि लघूनि च' आसुरी गायत्री पन्द्रह अक्षरों की होती है वह पन्द्रह अक्षरों से "ग्लौ" इसके अधिकार होने के कारण गुरु संज्ञक और लघु दोनों का ही ग्रहण करना चाहिये ॥ १४ ॥

अष्टौ वसव इति ॥ १५ ॥

अत्र शास्त्रे वसव इत्युच्यमानेऽष्टसंख्योपलक्षिता गुरुलघुस्वरूपा वर्णा गृह्यन्ते। लौकिकप्रसिद्ध्युपलक्षणार्थमिदं सूत्रम्। तेन चतुर्णा समुद्राः, पञ्चानामिन्द्रियाणि, इत्येवमादयः संज्ञाविशेषा लौकिकेभ्यः प्रत्येतव्याः। इतिकारोऽध्यायसमाप्तिसूचकः ॥

इह ध्यादीनामुपादानप्रयोजनं वर्ण्यते—अध्ययनाद्धीर्भवति। यस्य धीस्तस्य श्रीः, बुद्धिपूर्वकत्वाद्विभूतेः। यस्य श्रीस्तस्य स्त्री, अर्थमूलकत्वाद्गार्हस्थ्यस्य। 'वरा सा' इत्यनेन सर्वेषां स्त्रीसाधनोपायानां बुद्धेरुपायस्य महात्म्यं दर्शयति। तथा चोक्तम्—

**'अर्धाङ्गुलपरीणाहिजिह्वाग्रायासभीरवः।
सर्वाङ्गीणपरिक्लेशमबुधाः कर्म कुर्वते ॥"**

तत्राह शिष्यः-'का गुहा'? गुहाशब्दः स्थानवाचकः। का गुहा यत्रासौ तिष्ठति? उपाध्यायो ब्रूते-'वसुजा'। पृथिव्यां लभ्यते धीर्नात्र विषादः कर्त्तव्यः। पुनरप्याह शिष्यः-'सा ते क? सा धीस्त्वयोपदिष्टा पृथिव्यां काश्रयस्थितेन लभ्यते?। तत्रपुनराचार्य आह—'गृहे' पुनरप्याह शिष्यः-'कदासः' स गृहस्थः पुरुषः कदा कस्मिन्काले तां धियं प्राप्नोति?। ततोऽन्तरं गुरुराह-'धादिपरः' धारणार्थावबोधपरोऽसौ यदा स्यात्तदा धियं लभते। भूयोऽपि शिष्यः पृच्छति—'किं

वद' किं कुर्वन्नसौ तां धियं लभते ? तद्वद । तत्राह गुरुः'-नह सन्' हासादिचापल्यमकुर्वाणस्तां धियं लभत इत्यर्थं ॥ १५ ॥

इति भट्टहलायुधकृतायां छन्दोवृत्तौ प्रथमोऽध्यायः ।

इस छन्दशास्त्र मे 'वसु' शब्द से गुरु और लघु संज्ञक आठ अक्षरों का बोध करना चाहिये । इस सूत्र से लोक मे जितनी संख्याबोधक शब्दों की प्रसिद्धि है उन सबों का उपलक्षण समझना। जैसे समुद्र से चार का, इन्द्रिय से पांच का, रस से छः का, दिशा शब्द से दश का, इस प्रकार लौकिक संज्ञायोंसे ज्ञान कर लेना चाहिये

इस सूत्र में इति शब्द अध्याय समाप्ति का द्योतक है प्रथम अध्याय समाप्त हुआ यही सूचित कर रहा है

म् , य् , र् आदि संज्ञा विधान करने के लिये धी आदि शब्दों का उपादान सूत्रकार ने क्यों किया इसका उत्तर भट्ट हलायुध इसप्रकार दे रहे हैं–अध्ययन से ही बुद्धि बढ़ती है, जिसकी बुद्धि है उसी को लक्ष्मी मिलती है क्यों कि बुद्धि के विना कोई व्यवसाय नहीं किया जा सकता है बल्कि जो अधिक बुद्धिमान् है वही पुरुष अनेक प्रकार के विचित्र उपायों द्वारा अर्थ कमा लेते हैं और जिसके समीप अथ है उसको श्री मिल ही जाती है अथवा कहना चाहिये कि गार्हस्थ्य सञ्चालन अर्थोपार्जन के ऊपर निर्भर करता है। "वरासा" इस सूत्र से बुद्धि की प्रशंसा की जाती है वह बुद्धि अन्यान्य अर्थोपार्जन साधनो से श्रेष्ठ है कहा भी है कि—

आधा अङ्गुल विस्तृत जिह्व । म के कष्ट से डरे हुए मूर्खलोग जिससे समस्त शरीर में कष्ट होता है । ऐसे कर्म करते हैं

अध्ययन से केवल जीभ का ही कष्ट होता है परन्तु अध्ययन से डरने वाले लोगों को शारीरिक परिश्रम से ही अर्थोपार्जन करना पड़ता है यही इसका तात्पर्यहै।

फिर शिष्य पूंछता है कि 'कागुहा' स्थान कहां है अर्थात् जहां बुद्धि प्राप्त हो सकती है वह स्थान कहां है ?

उपाध्याय कहता है कि 'वसुधा' अर्थात् पृथ्वी में ही बुद्धि मिल सकती है, इसलिये दुःख नहीं मानना चाहिये ।

शिष्य पूछता है 'सा ते क्व' जिस बुद्धि प्राप्त करने का उपदेश आप दे रहे हैं वह बुद्धि पृथ्वी की किस जगह रहकर प्राप्त की जा सकेगी ?

गुरु कहता है—'गृहे' घर में ही बुद्धि मिल सकती है उसके लिये कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नही हैं ।

शिष्य पूछता है 'कदा सः' वह गृहस्थ पुरुष किस कालमें बुद्धि प्राप्त करता है?

इसका उत्तर है 'ध्यादिपरः' जब गृहस्थ पुरुष निर्जन गृहमें बैठकर चित्तको किसी एक लक्ष्य में स्थिर कर देता है तब इस प्रकारकी योगका छठां अङ्ग धारणासे चित्त स्थिर और शान्त हो जाता है और चित्तके शान्त होने से ही बुद्धि में सूक्ष्मता आती है । इससे आचार्य बुद्धि प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय धारणा का उपदेश दे रहे हैं ।

शिष्य फिर पूछता है । 'किंवद' क्या करता हुआ गृहस्थ बुद्धि प्राप्त कर सकता है अर्थात् बुद्धि प्राप्त करनेका साधारण उपाय क्या है ?

उत्तर है 'न हसन्' हास्य आदि चाञ्चल्य अर्थात् जिस क्रियासे मनमें चाञ्चल्य उत्पन्न होता हो ऐसी क्रियाको त्याग देनेसे ही बुद्धि प्राप्त की जा सकतीहै । अर्थात् किसी प्रकारसे चित्तवृत्तिके निरोध करनेसे ही बुद्धि प्राप्त हो सकती है

इति सान्यालोपाह्व श्रीअयोध्यानाथशास्त्रि विरचितायां कादम्बिन्याख्य भाषा टीकायां प्रथमोऽध्यायः ।

गण चक्रम् ।

संख्या	गणनाम	गणस्वरूपम्	गणदेवता	गणफलम्
१	मगणः	ऽ ऽ ऽ	भूमिः	लक्ष्मीः
२	यगणः	। ऽ ऽ	जलम्	वृद्धिः
३	रगणः	ऽ । ऽ	अग्निः	दाहः
४	सगणः	। । ऽ	वायुः	दूरगमनम्
५	तगणः	ऽ ऽ ।	व्योम	शून्यम्
६	जगणः	। ऽ ।	सूर्यः	रोगः
७	भगणः	ऽ । ।	चन्द्रः	यशः
८	नगणः	। । ।	स्वर्गः	सुखम्

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ छन्दोऽधिकारः—

(१)छन्दः ॥ १ ॥

अधिकारोऽयमाशास्त्रपरिसमाप्तेः । इत ऊर्ध्वं यद्वक्ष्यामश्छन्दस्तत्रोपतिष्ठते । छन्दःशब्देनाक्षरसंख्यावच्छेदोऽत्राभिधीयते ॥ १ ॥

कादम्बिनी ।

इस शास्त्रकी समाप्ति पर्य्यन्त छन्दःशब्दका अधिकार रहेगा । इसके अनन्तर जो कहा जायगा उसमें 'छन्दः' की उपस्थिति होगी । छन्दः शब्दसे यहां पर अक्षरोंकी नियत संख्या विशिष्ट वाक्य समझना ॥ १ ॥

अथ गायत्र्यधिकारः—

(२ गायत्री ॥ २ ॥

अधिकारोऽयमाद्वादशसूत्रपरिसमाप्तेः । 'तान्युष्णिग्- (' पि० २।१४) इत्यादिसूत्रात्प्राग्यदुच्यते छन्दस्तद्गायत्रीसंज्ञं वेदितव्यम् ॥२॥

बारहवें सूत्र पर्यन्त गायत्री शब्दका अधिकार रहेगा । तान्युष्णिक् ।२।१७ इत्यादि सूत्रसे पहले जो छन्द कहा जायगा उसे गायत्री संज्ञक समझना चाहिये ।

दैव्येकम् ॥ ३ ॥

एका(३)क्षरं छन्दो दैवी गायत्री संज्ञायते । तत्रायं प्रदर्शनोपायः-'

---

(१) छन्दांसि छादनात् (नि० ७-३-१२) छदि संवरणे, संवृणोति हृदयमानन्दातिरेकेणेति छन्दः। आह्लादकत्वेमेवच्छन्दस्त्वं 'चदि' आह्लादे असुनि प्रत्यये चन्देरादेश्छत्वे च कृते छन्द इति वैयाकरणाः ।

(२) गायत्री। गायतेः स्तुतिकर्मणः ॥ (नि. अ० ७ पा० ३ ख. १२)

गीयन्ते स्तूयन्ते देवा यया सेत्यर्थः। त्रिगमना वा विपरीता (नि ७।३।१८) अथवा त्रिषु-ऋग्यजुः सामसुगमनं पादशो यस्याः सा। विपरीता वर्णव्यत्ययमापन्ना (त्रि-गायत्=गायत्री)

गायतो मुखादुदपतत् इति च ब्राह्मणम्। (नि० ७।३।१२।६)

गायतो ब्रह्मणो मुखात् त्रिभ्यो वेदेभ्यः सकाशात् उदपतत् निरगादिति तदर्थः। गायन्तं त्रायते यस्मात् गायत्री सा ततः स्मृता। इति च स्मृतिवचनम्।

(३) एकाक्षरं छन्दः वेदे दैवी गायत्री संज्ञकं भवति। दैवी गायत्र्यादीनामुदाहरणानि वृत्तिकारेण न प्रदर्शितानि तथापि यथा लब्धं प्रदर्शयिष्यन्ते तानि कथंचिदुन्नेयानि। दैवी गायत्र्या उदाहरणं यथा-ओ ३ म्।

चतुरङ्गक्रीडायामिव चतुःषष्टिकोष्ठान् लिखित्वा (प्रथमपङ्क्तौ आर्षीनाम लिखित्वा द्वितीयादिकोष्ठेष्वङ्कानामुपरि गायत्र्यादिलक्षच्छन्दसां नामानि विन्यसेत्।) तत्र द्वितीयायां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे दैवीशब्दं विन्यसेत्, संज्ञाज्ञापनार्थम्। द्वितीये एक संख्याकमङ्कं विन्यसेत्॥ ३॥

एकाक्षर छन्दको दैवीगायत्री कहते हैं। गायत्री उष्णिक् आदि सात प्रकार छन्द होते हैं। उनमें हर एकके दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी, साम्नी, आर्षी और ब्राह्मी, ये आठ भेद होते हैं। कौन कितने अक्षरोंका होता है इसे अच्छी तरह समझानेके लिये हलायुधभट्टने एक मण्डल तैयार किया है उस मण्डलको इस अध्याय की समाप्तिमें दिखलाया जायगा। उसके बनानेकी पद्धति यह है कि सतरञ्ज के खेल की तरह आठपंक्तिके चौसठ कोष्ठका एक मण्डल बनाओ। फिर उसकी पहली पंक्तिके प्रथम कोष्ठमें आर्षी ऐसा लिखो। द्वितीयसे अष्टम कोष्ठ तकके ऊपर भागमें क्रमशः गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती छन्दोंका नाम लिखो पुनः द्वितीय पंक्तिके प्रथम कोष्ठमें दैवी ऐसा शब्द लिखो। संज्ञा समझानेके लिये द्वितीय कोष्ठमें [१] अङ्क लिखना चाहिये ॥ ३ ॥

आसुरी पञ्चदश ॥ ४ ॥

(१)आसुरी गायत्री पञ्चदशाक्षरा। तानि चाक्षराणि 'ग्लौ' (पि० सू० १।१४) इत्यधिकाराद्गुरूणि लघूनि च यथासम्भवं द्रष्टव्यानि। अत्र तृतीयायां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे आसुरीशब्दं व्यवस्थाप्य द्वितीये कोष्ठे पञ्चदश [१५] संख्याङ्कं लिखेत्॥ ४॥

पन्द्रह अक्षरोंकी असुरी गायत्री होती है। "ग्लौ" (१।१४) गुरु और लघु का अधिकार चल रहा है इसलिये आसुरी गायत्री आदि शब्दोंमें कहे गये अक्षरों से गुरु और लघुसंज्ञक दोनोंका ग्रहण करना चाहिये। पूर्वोक्त मण्डलकी तृतीय पंक्तिके प्रथम कोष्ठमें आसुरी शब्द लिखकर द्वितीय कोष्ठमें[१५]पन्द्रह अङ्क लिखना चाहिये ॥ ४ ॥

---

(१) पञ्चदशाक्षरा गायत्री आसुरी भवति। उदाहरणद्वयं यथा—

(क) नमो वरुणाया धिष्ठितो वरुणस्य पाशः॥ (शु० य० ८।२३)

(ख) उपयाम गृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा॥ (शु० य० ७।९)

प्राजापत्याष्टौ ॥ ५ ॥

(१)प्राजापत्या गायत्र्यष्टाक्षरा भवति। यत्र कचिद्वेदेऽष्टाक्षरं छन्दस्तत्प्राजापत्या गायत्रीति ज्ञेयम्। चतुर्थ्यामत्र पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे प्राजापत्याशब्दं लिखित्वा द्वितीयेऽष्ट [८] संख्याङ्कं लिखेत् ॥ ५ ॥

जिस छन्दमें आठ [८] अक्षर हों उसे "प्राजापत्या" गायत्री कहते हैं। जहां पर किसी पदमें आठ अक्षरका छन्द हो उसे "प्राजापत्या गायत्री" समझना। पूर्वोक्त मण्डल की चौथी पंक्तिके पहिले कोष्ठमें प्राजापत्या" शब्द लिखकर दूसरे कोष्ठमें [८] आठ ऐसा अङ्क लिखो ॥ ५ ॥

यजुषां षट् ॥ ६ ॥

(२)यजुषां गायत्री षडक्षरा भवति। यत्र कचिद्वेदे षडक्षरं छन्दस्तद्याजुषी गायत्रीति संज्ञायते। अत्र पञ्चम्यां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे याजुषीशब्दं व्यावस्थाप्य द्वितीये षट् [६] —संख्याङ्कं लिखेत् ॥ ६ ॥

जिस छन्दमें छः अक्षर हों उसे "याजुषी गायत्री" कहते हैं। जहां कहीं वेदमें छः अक्षरोंका छन्द दीख पड़े उसे "याजुषी गायत्री" समझना। पूर्वोक्त मण्डलकी पांचवीं पंक्तिके पहिले कोष्ठमें याजुषी शब्द लिखकर उसी पंक्तिके दूसरे कोष्ठमें छः [६] अङ्क बैठाना ॥ ६ ॥

साम्नां द्विः ॥ ७ ॥

---

(१) प्राजापत्यागयत्र्या उदाहरणद्वयं—यथा

(क) अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः।
(ख) ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः। } शु० य० ३।९
(ग) अप नः शोशुचदघम् (शु० य० २२।१९)

(२) षडक्षरा गायत्री याजुषी संज्ञका भवति। उदाहरणत्रयं यथा—

(क) सुत्राम्णे पच्यस्व
(ख) अस्यश्विभ्यां पच्यस्व } (शु० य० १९।१)
(ग) 'वर्षं वृद्धमसि' (य० तै० सं० १।१।२) ॥२॥

(१)षडित्यनुवर्तते । द्विरिति क्रियाभ्यावृत्तिदर्शनात्करोतिरध्याहियते । द्वादशाक्षरेत्यभ्यावृत्त्या क्रियते । तेन द्विः कृता द्विगुणिता षट्संख्या साम्नी गायत्री भवति । यत्र क्वचिद्वेदे द्वादशाक्षरं छन्दः तत्साम्नां गायत्रीति संज्ञायते । अत्र षष्ठयां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे सामशब्दं लिखित्वा द्वितीये द्वादश [१२] संख्याङ्कं लिखेत् ॥ ७ ॥

पूर्वसूत्रसे (षट्) इसपदकी अनुवृत्ति होती है 'द्विः' इस पदमें क्रियाकी आवृत्ति अर्थमें सुच् (२)प्रत्यय होता है । हिन्दीमें उसका अर्थ दोहराना या दो वार उच्चारण करना होता है । इससे छः संख्याके दोहरानेसे अर्थात् दोगुणा करने से जो संख्या होती हो वह संख्या "साम्नी गायत्री" की आती है । तात्पर्य्य यह हुवा कि जहां कहीं वेदमें बारह [१२] अक्षरों का छन्द दीख पड़े उसे "साम्नी गायत्री" समझना । पूर्वोक्त मण्डलकी छठी पंक्तिके पहिले कोठेमें साम शब्द-लखकर उसी पंक्तिके दूसरे कोठेमें बारह [१२] अङ्क रखना चाहिये ॥ ७ ॥

(३)ऋचां त्रिः ॥ ८ ॥

षडित्यनुवर्त्तते । अत्रापि पूर्ववत् क्रियाभ्यावृत्तिः, तेन त्रिगुणिता षट्संख्या ऋचां गायत्री भवति । यत्र क्वचिद्वेदेऽष्टादशाक्षरं छन्दस्तदृचां गायत्री ज्ञेया । अत्र सप्तम्यां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे ऋक्शब्दं व्यवस्थाप्य द्वितीयेऽष्टादश [१८] संख्याङ्कं लिखेत् ॥ ८ ॥

---

(१) 'साम्नां द्वादश' (१६।१२) इति ऋक्प्रातिशाख्यसूत्रेण "साम्नां स्याद् द्वादशाक्षरा" इत्याग्नेयच्छन्दःसार वचनेन च सामगायत्र्या द्वादशाक्षरत्वं सिद्धतीति ज्ञेयम् ।

उदाहरणार्थं यथा—

(क) वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व (शु० य० ७।२७)

(ख) अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः । (शु० य० ११।४७)

(ग) घृतेन सीता मधुना समज्यताम् (शु० य० १२।७०)

(२) द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् (पा० सू० ५।४।१८)

(३) आर्ची गायत्री यथा—

(क) नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमः (शु० य० १६।२१)

(ख) वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वत् (शु० य० ११।६०)

'षट्' इस पदकी अनुवृत्ति आती है। इस सूत्रमें भी क्रियाकी आवृत्ति पूर्ववत् समझना। छः संख्याको तीन से गुणा करनेपर जो संख्या होती है वही "आर्ची गायत्री" की संख्या है। अर्थात् जहां कहीं वेदमें आठारह [१८] अक्षरों का छन्द होता है। उसे "आर्ची गायत्री" समझना।

अब पूर्वोक्त मण्डलकी सातवीं पंक्तिके पहिले कोठेमें 'आर्ची' शब्द लिखकर उसी पंक्तिके दूसरे कोठेमें अठारह १८ अङ्क रखो ॥८॥

द्वौ द्वौ साम्नां(१) वर्धेत ॥ ९ ॥

गायत्रीत्यनुवर्तते। साम्नां पङ्क्तौ गायत्री द्वौ द्वौ संख्याङ्कौ गृ-

(१) तत्र सामोष्णिक् यथा—

उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ ऽऽ अनु ॥' (शु० य० ४।२८)

सामानुष्टुप् यथा—

रात्रिः केतुना जुषताँ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा ॥ (शु० य० ३६।२१)

सामबृहती यथा—

(क) दिवः सूनुरस्यैष ते पृथिव्याँल्लोक आरण्यस्ते पशुः। (शु० य० ६।६)

(ख) परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज। (शु० य० ४।२८)

साम्नीपङ्क्तिर्यथा—

(क) एधोऽस्येधिषीमहि समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ॥'

(शु० य० ३८।२५)

(ख) 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥'

(शु० य० ५।२६)

सामत्रिष्टुप् यथा—

(क) 'इन्द्रश्च सम्राड्वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्र एतम् ॥'

(शु० य० ८।३७)

(ख) 'उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्यँहस आस्य यज्ञस्योदृचः ॥'

(शु० य० ४।१०)

सामजगती यथा—

'अनु त्वा माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः ॥

(शु० य० ४।२०)

होत्वा पूर्वात् पूर्वाद्वर्धेत यावदष्टमं कोष्ठं प्राप्नोति तत्र साम्नां पङ्क्तौ तृतीयादिषु कोष्ठेषु क्रमेण वर्धितान्यक्षराण्यङ्केन विन्यसेत् ॥ ६ ॥

इस सूत्र में भी "गायत्री" पदकी अनुवृत्ति आती है।

छठी पंक्तिमें जो सामगायत्री की संख्या है उसे दो दो संख्यासे बढ़ाकर उसी पंक्तिके तीसरे कोठेसे आठवें कोठे तक बैठाना।

अर्थात् छठी पङ्क्तिके दूसरे कोठेमें सामगा[४]यत्रीका अङ्क [१२] बारह है उसमें दो जोड़ने से तीसरे कोठेमें [१४] हो जाता है, पुनः चौदहमें दो जोड़ने से चौथे कोठेमें [१६] हो जाता है। इसी तरह पांचवें में [१८], छटें में [२०], सातवें में [२२], और आठवें में [२४] बैठेगा। तात्पर्य यह हुआ कि सामगायत्रीमें जो अक्षर संख्या है, उसी संख्यामें दो संख्या और जोड़ देनेसे सामोष्णिक्‌की अक्षर संख्या निकल आती है। इसी प्रकार सामानुष्टुप आदिकी भी

(ख) कोसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि। यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम। (शु० य० ७।२९)

(ग) दक्षिणामारोह त्रिष्टुप् त्वावतु बृहत्साम पञ्चदशस्तोमो ग्रीष्मऋतुः क्षत्रं द्रविणम्। (शु० य० १०।११)

आर्ची त्रिष्टुप् यथा—

(क) एषा ते शुक्र तनूरे तद्वर्चस्तया सम्भव भ्राजं गच्छ। जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे। (शु० य० ४।१७)

(ख) एता असदन्त्सुकृतस्य लोके ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहिमां यज्ञनियम्॥ (तै सं० १।१।११)

(ग) अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्या मितच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि। (शु० य० २।५)

आर्चीजगती यथा—

(क) 'बधान देव सवितः परमस्यां परावति शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्'। (तै० सं० १।१।९।६)

(ख) यस्ते अश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिस्तस्य त इष्टयजुषस्तुतस्तोमस्य शस्तोक्थस्योप हूतस्योपहूतोभक्षयामि। (शु० य० ८।१२)

अक्षर संख्या निकल आती है। जैसे सामगायत्री की अक्षर संख्या १२ है इसलिये १२+२=१४ सामोष्णिक्। १४+२=१६ सामानुष्टुप्। १६+२=१८ साम-बृहती। १८+२=२० सामपङ्क्तिः। २०+२=२२ सामत्रिष्टुप्। २२+२=२४ सामजगती।

ओं(१)त्रीनृचाम्॥ १०॥

गायत्रीत्यनुवर्तते। ऋचां गायत्री त्रींस्त्रीन् संख्याङ्कान् गृहीत्वा पूर्ववद्वर्धेत। अत्राप्यृचां पङ्क्तौ तृतीयादिषु कोष्ठेषु त्रि[३]संख्याङ्क-क्रमेण वृद्धमङ्कं स्थापयेत्॥ १०॥

इस सूत्रमें भी गायत्री पदका अनुवर्तन होता है, सातवी पङ्क्ति जो "आर्ची गायत्री" का कोष्ठ है उसमें [१८] अठारह संख्या है। उस अठारह संख्या में तीन जोड़नेसे "आर्ची उष्णिक्" की अक्षर संख्या आती है, पुनः तीन जोड़ने

---

(१) आर्ची उष्णिक् यथा—

(क) तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात्सुकृतस्य लोके।

(अथ० सं० १६।९।२)

(ख) इन्द्रस्य स्यूरसीन्द्रस्य ध्रुवोऽसि ऐन्द्रमसि वैश्वदेवमसि (तै॰ आ॰ १०।२७)

आर्ची अनुष्टुप् यथा—

(क) 'अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत् क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः।'

(शु० य० १९।७५)

(ख) 'देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः।

(तै० सं॰ १।१।५।१)

आर्ची बृहती यथा—

(क) मध्वा यज्ञं नक्षति प्रैणानो नराशंसो अग्निः सुकृद्देवः सविता विश्ववारः

(ऋ० सं० १५।२७।३)

(ख) उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः एष ते योनि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥

(शु० य० ७।३३)

आर्ची पंक्तिर्यथा—

(क) 'वसन्त इन्नुरन्त्यो ग्रीष्मइन्नुरन्त्यः। वर्षाण्यनुशरदो हेमन्तः शिशिर इन्नुरन्त्यः॥'

(सा० सं० पू० ६।२।३।१३)

से आर्ची अनुष्टुप्की अक्षरसंख्या आ जाती है। इसी प्रकार लगातार तीसरे कोठेसे आठवें कोठे तक पूर्व की तरह [३] तीन अङ्क—जोड़े जानेसे क्रमशः तीसरे कोठेमें २१, चौथे में २४, पांचवें में २७, छठे में ३०, सातवें में ३३, और आठवें में ३६ अङ्क बैठेगा।

अतएव १८ अक्षरों की आर्ची गायत्री, २१ अक्षरोंका 'आर्ची उष्णिक्', २४ का "आर्ची अनुष्टुप्', ७२ की "आर्ची बृहती" ३० की "आर्ची पंक्ति, ३३ की "आर्ची त्रिष्टुप्" और ३६ की "आर्ची जगती" होती है।

(१)चतुरश्चतुरः प्राजापत्यायाः ॥ ११ ॥

प्राजापत्यायाः पङ्क्तौ गायत्री चतुरश्चतुरः संख्याङ्कान् गृहीत्वा

---

(१) प्राजापत्योष्णिगादीनां क्रमशः उदाहरणानि प्रदर्श्यन्ते—

तत्र प्राजापत्योष्णिक् यथा—

निर्दग्धꣳरक्षो निर्दग्धा अरातयः।' (तै० सं०का० १ प्र० १ अ० ७)

प्राजापत्यानुष्टुप् यथा—

(क) रेवती रमध्वं बृहस्पते धारयावसूनि (शु० य० ६।८)

(ख) यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजति (शु० य० ८।२८)

प्राजापत्याबृहती यथा—

(क) 'अपां पेरुरस्यापो देवी स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देवहविः।'

(शु० य० ६।१०)

(ख) 'अग्ने अङ्गिरः शतं ते सन्त्वावृतः सहस्रं त उपावृतः॥'

(शु० य० १२।८)

प्राजापत्या पङ्क्तिर्यथा—

(क) 'उत श्रवसा पृथिवीꣳ सꣳसीदस्व महाँ२ऽअसि रोचस्व देववीतमः॥'

(शु० य० ३८।१७)

(ख) 'प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं गायत यं जुजोषषते॥'

(साम० सं० पू० ५।२।६।१०)

प्राजापत्यात्रिष्टुप् यथा—

(क) 'उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन एषते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने॥'

(शु० य० ८।३४)

वर्धेत । अत्रापि तृतीयादिषु कोष्ठेषु विन्यासः पूर्ववदेव ॥ ११ ॥

चौथी पंक्तिमें "प्राजापत्यागायत्री" चार चार संख्या से बढ़ती हुई तीसरे कोठेसे आठवें कोठे तक क्रमशः बैठेगी । अर्थात् उसी पंक्तिके दूसरे कोठेमें "प्राजापत्या गायत्री" को संख्या [८] है अतएव [४] से बढ़ती हुई तीसरे कोष्ठ में बैठेगी १२, चौथेमें १६, पांचवेंमें २०, छठेंमें २४, सातवेंमें १८ और आठवेंमें ३२ । इसलिये "प्राजापत्या उष्णिक्" की अक्षर संख्या १२, "प्राजापत्या अनुष्टुप" की १६, प्राजापत्या बृहती, की २०, "प्राजापत्या पंक्ति" की २४, "प्राजापत्या त्रिष्टुप्" की २८, और "प्राजापत्याजगती" की अक्षरसंख्या ३२ समझना चाहिये ।

(२)एकैकं शेष ॥ १२ ॥

(ख) 'उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥'

(शु० य० ७।३८)

प्राजापत्या जगती यथा—

(क) 'हरिः पतङ्गः पटरी सुपर्णः । दिविक्षयो नभसा य एति स न इन्द्रः कामवरं-ददातु ॥' (तै० आ० ३।११)

(ख) प्रत्युष्टँ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तँ रक्षो निष्टप्ता अरातयः । उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥

(शु० य० १।७)

(१) एकैकं शेषे इति सूत्रेण दैव्युष्णिगादीनां याजुष्युष्णिगादीनाञ्चैकदेव स्वरूपं प्रदर्शयत उभयोरेकधर्मत्वात् ।

तत्र दैव्युष्णिगादीनां निदर्शनानिसंस्थाप्यन्तेदैवी उष्णिक् यथा—

(क) 'भुवः' (तै० आ० प्र० १० अ० २७)

(ख) 'कोऽसि' (शु० य० ७।२९)

(ग) मधु (शु० य० ३७,१३)

दैव्यनुष्टुप् यथा—

(क) 'मखोऽसि' (तै० आ० ४।२)

(ख) 'धूरसि' (शु० य० १।८)

(ग) 'इषेत्वा' (शु य० १।१)

दैवी बृहती यथा—

(क) भूर्भुवः स्वः ।' (शु० य० ३।५)

(ख) 'स्वविदे वेट्।' (शु० य० १७।१२)

दैवी पंक्ति यथा—

(क) बर्हिषदे वेट्।' (शु० य० १७।१२)

(ख) 'नमो गर्णेभ्यः।' (शु० य० १६।२५)

(ग) 'नमः सभाभ्यः।' (शु० य० १६।२४)

दैवी त्रिष्टुप् यथा—

(क) 'नक्षत्रेभ्यः स्वाहा' (शु० य० २२।२८)

(ख) 'अग्नेस्तनूरसि।' (शु० य० ५।१)

दैवी जगती यथा—

(क) 'नमः शङ्कराय च।' (शु० य० १६।४१

(ख) 'कनिष्ठाय च नमः।' (शु०य० १६।३२)

इदानीं याजुष्युष्णिगादीनां निदर्शनानियथाक्रमं प्रदर्श्यन्ते तत्र याजुष्युष्णिक् यथा—

(क) 'माहिर्भूर्मा पृदाकुः।' (शु० य० ८।२३)

(ख) 'समुद्रं गच्छ स्वाहा।' (शु० य० ६।२१)

याजुष्यनुष्टुप् यथा—

(क) 'अनु त्वा देववीतये।' (शु० य० ५।९)

(ख) 'उपयामगृहीतोऽसि।' (शु० य० ७।२५)

(ग) दिव्यं नमो गच्छ स्वाहा (शु० य० ६।२१)

याजुषी बृहती यथा—

'रक्षोहणं वलगहनम।' (शु० य० ५।२३)

'मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहा।' (शु० य० ६।२१)

याजुषी पङ्क्ति यथा—

(क) 'होता यक्षदश्विनौ छागस्य।' (शु० य० २१।४३)

(ख) उपयामगृहीतोऽसीषेत्वा।' (शु० य० ७।३०)

(ग) 'उपयामगृहीतोऽस्यूर्जे त्वा।' (शु० य० ७।३०)

अनुक्तः शेषः। यत्र गायत्र्यां संख्यावृद्धिर्नोक्ता सैकैकं संख्याङ्कं गृहीत्वा वर्धेत। दैवी याजुषी च शेष शब्देनोच्यते। आसुर्या विशेषाभिधानात्। तेन दैवी तृतीयादिषु कोष्ठेषु क्रमेणैकैकमक्षरं गृहीत्वा वर्धेत। तथैव याजुषी ॥ १२ ॥

जिन गायत्रियोंके सम्बन्धमें विशेष विधान नहीं किया गया हो उन की अक्षर संख्या एक संख्यासे बढ़ती हुई तीसरे कोठेसे आठवें कोठे तक बैठेगी। दैवी और याजुषी ही ऐसी गायत्री हैं जिनकी सख्यामें वृद्धि का विधान नहीं है। वे "शेष" शब्दसे कही गई है। आसुरी गायत्रीका विशेष विधान आगेके सूत्रसे करने ही वाले हैं। उसकी भी संख्यावृद्धि नहीं होती है। बल्कि संख्याका ह्रास होता है। इसलिये मण्डलकी दूसरी और पांचवी पंक्तिमें जो दैवी और याजुषी कोष्ठ हैं उसमें दैवी गायत्रीकी अक्षर संख्या [१] एक और याजुषी गायत्री की अक्षर संख्या [६] छः है उनकी वृद्धि आठवें कोठे तक एक संख्याके द्वारा होती चलेगी। अर्थात् दैवी उष्णिक् की अक्षर संख्या [२], दैवी अनुष्टुप् की [३], दैवी बृहती की [४], दैवी पंक्तिकी [५], दैवी त्रिष्टुप्की, [६] और दैवी जगती की अक्षर संख्या [७] हैं।

याजुषी उष्णिक्की अक्षर संख्या [७], याजुषी अनुष्टुप्की [८], याजुषी बृहती की, [९], याजुषी पंक्ति की [१०], याजुषी त्रिष्टुप् की [११] और याजुषी जगतीकी अक्षर संख्या [१२] हैं।

(१)जह्यादासुरी ॥ १३ ॥

याजुषी त्रिष्टुप् यथा—

(क) 'होता यक्षत् सरस्वती मेषस्य।' (शु० य० २१।४४)

(ख) अग्निजा असि प्रजापतेरेतः (तै० आ० ४।२।१५)

याजुषी जगती यथा—

'नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च।' (शु० य० १६ ३४)

नमः शर्वाय च पशुपतये च (तै० सं० ४।५।५।२)

(१) इदानीमासुर्य्युष्णिगादीनां निदर्शनानि यथालब्धानि संख्याप्यन्ते। तत्रासुर्य्युष्णिक् यथा—

(क) 'उपयामगृहीतोऽस्य१ंहसस्पतये त्वा। (शु० य० ७।२७)

एकैकमित्यनुवर्तते । आसुरी गायत्री एकैकमक्षरं त्यजेत् । उत्तरेषु कोष्ठेषु वृद्धौ प्राप्तायां ह्रासो विधीयते । तेऽङ्काः क्रमेण स्थाप्याः॥१३॥

पूर्वसूत्रसे एकैक पदका अनुवर्तन होता है तृतीय पंक्तिमें आसुरी गायत्री एक एक संख्या छोड़ती हुई द्वितीय कोष्ठसे अष्टम कोष्ठ तक क्रमशः बैठेंगी। जैसे तृतीय पंक्तिके द्वितीय कोष्ठमें आसुरी गायत्रीकी अक्षर संख्या [१५] पन्द्रह है, उस [१५] से [१] घटाकर तृतीय कोष्ठमें [१४], बैठेगी उस से पुनः [१] एक घटानेसे जो [१३] संख्या होगी वह चतुर्थ कोष्ठमें बैठेगी। इसी प्रकार पञ्चम कोष्ठ में [१२], षष्ठ में [११], और सप्तम में [१०] और नवम कोष्ठ में [९] संख्या बैठेगी ॥१३॥

(ख) चक्षुर्म्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्। (शु० य० ७।२७)

आसुर्यनुष्टुप् यथा—

(क) 'उपयामगृहीतोऽसि तपस्यायत्वा ।' (शु० य० ७।३०)

(ख) प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व ।' (शु० य० ७।२७)

(ग) व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व ।' (शु० य० ७।२७)

आसुरीबृहती यथा—

(क) 'वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व ।' (शु० य० ७।२७)

(ख)उपयामगृहीतोऽसि मघवे त्वा (शु० य० ७।३०)

आसुरीपंक्ति यथा—

(क) इन्द्र मरत्व इह पाहि सोमम् (शु० य० ७।३५)

(ख) अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत ।' (अथ० सं० १३।१।१०)

आसुरी त्रिष्टुप् यथा—

उरुष्य राय एषो यजस्व ।' (शु० य० ७।४)

स्वधा पितृभ्यःपृथिविषभ्यः। (अथ० सं० (१८।४।७८)

आसुरीजगती यथा—

(क) सोमायलवाना लभते ।' (शु० य० २४।२४)

(ख) 'मधुत्वा मधुला करोतु ।' (तै० आ० ४।२।१८)

अर्थात् आसुरी उष्णिक्की अक्षर संख्या [१४], आसुरी अनुष्टुप्की अक्षर संख्या [१३], आसुरी बृहतीकी [१२], आसुरी पंक्तिकी [११], आसुरी त्रिष्टुप् की [१०] और आसुरी जगतीकी अक्षर संख्या [९] होती है ऐसा समझना चाहिये।

तान्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यः ॥१४॥

तानि छन्दांसि गायत्र्याः पुरस्तात् उष्णिग्-अनुष्टुब्बृहती-पङ्क्ति-त्रिष्टुब्-जगत्याख्यानि क्रमेण भवन्ति ॥ १४ ॥

गायत्री छन्द के अनन्तर द्वितीय कोष्ठसे अष्टम कोष्ठ पर्यन्त क्रमशः उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती छन्द होंगे। अर्थात् गायत्री छन्दके जैसे देवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी आदि भेद होते हैं उसी प्रकार उष्णिक् आदि छन्दके भी भेद होते हैं। ये भेद पूर्व दिखाये गये हैं।

तिस्रस्तिस्रः सनाम्न्य एकैका ब्राह्मयः(१) ॥१५॥

---

(१) इदानीं ब्राह्मी गायत्र्यादीनां यथालब्धानि निदर्शनानि प्रदर्श्यन्ते।

तत्र ब्राह्मी गायत्री यथा—

देवी द्यावापृथिवी मखस्य वामद्य
शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः।
मखाय त्वा मखस्यत्वाशीर्ष्णे ॥ (शु० य० ३७।३)

ब्राह्मयुष्णिक् यथा—

देवीद्वारो अश्विना भिषजेन्द्रे सरस्वती। प्राणं न वीर्यं नसि द्वारो दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ (शु० य० २१।४९)

ब्राह्म्यनुष्टुप् यथा—

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः। अवदेवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ॥ (शु० य० ३।४८)

ब्राह्मीबृहती यथा—

प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा। भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा। वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भꣳ समुद्रियम्। अग्न आयाहि वीतये ॥ (शु० य० ११।४६)

ब्राह्मीपंक्तिर्यथा—

याजुषो पङ्क्तिमारभ्य तिस्रो याजुषी, साम्नी, आर्ची चेति गायत्र्यो मिलिता एका षट्त्रिंशदक्षरा ब्राह्मी गायत्री भवति। एनाम्न्य इत्येकसंज्ञा इत्यर्थः। तिस्रस्तिस्र इति वीप्सया परेषामुष्णिगादीनामिह ग्रहणम्। तथैकैकेति वीप्सया ता एव ब्राह्म्यो भवन्तीति विधीयते। ब्राह्म्य इति गायत्र्यादीनां जगतीपर्यन्तानां विशेषणम्। एवं याजुषी, साम्नी, आर्ची चोष्णिङ्मिलिता एकीकृता द्वाचत्वारिंशदक्षरा ब्राह्म्युष्णिग्भवति। एवं तिस्रोऽनुष्टुभः संगताः सत्योऽष्टाचत्वारिंशदक्षरैका ब्राह्म्यनुष्टुब् भवति। ता एव तिस्रो बृहत्यः संगताः सत्यश्चतुःपञ्चाशदक्षरा एका ब्राह्मी बृहती भवति। ता एव तिस्रः पङ्क्तयः संगताः षष्ट्यक्षरा एका ब्राह्मीपङ्क्तिर्भवति। ता एव तिस्रस्त्रिष्टुभः संगतः षट्षष्ठ्यक्षरा एका ब्राह्मी त्रिष्टुप् भवति। ता एव तिस्रो जगत्यः संगता द्वासप्तत्यक्षरा एका ब्राह्मी जगती भवति। अत्राष्टम्यां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे ब्राह्मीशब्दं व्यवस्थाप्य द्वितीयादौ क्रमेण गायत्र्यादीनां षट्त्रिंशदा [३६] द्यङ्कान् विन्यसेत् ॥ १५ ॥

याजुषी, साम्नी और आर्ची गायत्री इन तीनोंको मिला देनेसे (३६) अक्षरों

अदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्म्मि देवयजने पृथिव्या इडायास्पदमसि घृतवत् स्वाहा।
अस्मे रमस्वास्मे ते बन्धुस्त्वे रायो मे रायो मा वयꣳरायस्पोषेणवियौष्म तोतो रायः॥
(शु० य० ४।२२)

ब्राह्मीत्रिष्टुप् यथा—

षोडशी स्तोम ओजो द्रविणं चतुश्चत्वारिꣳशस्तोमो वर्चो द्रविणम्।
अग्नेः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे अभिगृणन्तु देवाः।
स्तोम पृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणायजस्व॥ (शु० य० १।३५)

ब्राह्मीजगती यथा—

उद्दिवꣳस्तभानान्तरिक्षं पृणदृꣳहस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतुमित्रावरुणौ।
ध्रुवेण धर्मणा।
ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि।
ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह॥(शुय० ५।२७)

की एक "ब्राह्मी गायत्री" होती है। इसी प्रकार याजुषी, साम्नी, और आर्ची, इन तीनों उष्णिक् छन्दोंको मिला देनेसे [४२] अक्षरोंकी एक ब्राह्मी उष्णिक्, याजुषी, साम्नी, और आर्ची अनुष्टुप्, इन तीनोंके मिलजानेसे [४८] अक्षरों का एक ब्राह्मी अनुष्टुप्, याजुषी, साम्नी, और आर्ची बृहती, इन तीनोंके मिल जानेसे [५४] अक्षरोंकी एक "ब्राह्मी बृहती" याजुषी, साम्नी और आर्ची पंक्ति के मिल जानेसे ६० अक्षरोंकी एक 'ब्राह्मी पंक्ति' याजुषी, साम्नी और आर्ची त्रिष्टुप्के मिल जानेसे ६६ अक्षरोंमें एक "ब्राह्मी त्रिष्टुप्" एवं याजुषी, साम्नी और आर्ची, इन तीन प्रकार जगती छन्दोंका मिला देनेसे ७२ अक्षरोंकी एक ब्राह्मी जगती होती है।

अब पूर्वोक्त मण्डल की अष्टम पंक्ति के प्रथम कोष्ठमें ब्राह्मी शब्द लिखकर उसी पंक्तिके द्वितीय कोष्ठमें [३६], तृतीय कोष्ठमें [४२], चतुर्थ कोष्ठमें [४८], पञ्चम कोष्ठमें [५४], षष्ठ कोष्ठ में [६०], सप्तम कोष्ठमें [६६] और अष्टम कोष्ठमें [७२] इन अङ्कों को बैठाना चाहिये।

प्राग्यजुषामार्ष्य(१) इति ॥ १६ ॥

---

(१) इदानीं यथालब्धं आर्षीगायत्र्यादीना मुदाहरणानि प्रदर्श्यन्ते

तत्रार्षी गायत्री यथा—

(क) शं नो देवीरभीष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥

(शु० य० ३६।१२)

(ख) आपो हिष्ठा मयो भुवस्तान ऊर्जे दधातन। महेरणाय चक्षसे ॥

(शु० य० ३६।१४)

आर्ष्युष्णिग् यथा—

(क) अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो। अस्मे धेहि जात वेदो महि श्रवः ॥

(शु० य० १५।३५)

(ख) त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥

(शु० य० ३।६२)

आर्ष्यनुष्टुप् यथा—

(क)पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः। पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा।

(ख) ईशा वास्य मिदँ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ (शु० य० ४०।१)

आर्षीबृहती यथा—

अत्र पितरो मादयध्वं यथा भागमा वृषायध्वम्। अमीमदन्त पितरो यथा भागमावृषायिषत॥

(शु० य० २।३१)

आर्षीपङ्क्तिर्यथा—

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि। ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः॥ (शु० य० ३।४१)

आर्षीत्रिष्टुब् यथा—

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण॥ (शु० य० ३।१७)

आर्षीजगती यथा—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।

वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥ (शु०य०११।४)

इदन्त्वत्र बोध्यम्—बहवो मन्त्रावेदेषु दृश्यन्ते। ये खलु कात्यायनादिभिरुक्ताऽपि पिङ्गलाचार्य कृतगायत्र्यादिलक्षणैर्लक्ष्या न भवन्ति, ते तु वक्ष्यमाणनिचृत् भुरिग्–विराट्–स्वराट् रूपैः समाधेयाः। यथा स्वरित्यस्यैकाक्षरत्वेऽपि दैवीविराट्रूपेण नानुष्टुप् छन्दस्त्वं विरुद्धम्। यतो हि कात्यायनादिभिः सर्वानुक्रमणिकार, प्रातिशाख्यकारादिभिश्च तत्तन्मंत्रेषु दृष्ट्वाण्येव यानिच्छन्दांसि विहितानि तेषामेव यथाशास्त्रत्व प्रतिपादनार्थं पिङ्गलाचार्येण छन्दः शास्त्रमिदं प्रणीतं न तु तेषां बाधनार्थमिति। तथा ह्येकाक्षरादि च्छन्दसां शास्त्रविहितत्व प्रदर्शनपुरस्सरं भेदाः प्रदर्श्यन्ते।

अक्षरा	गायत्री	विशेषनाम
१	दैवी	०
२	,,	भुरिक्
३	,,	स्वराट्
४	याजुषी	विराट्
५	,,	निचृत्
६	,,	प्राजापत्या विराट्
७	,,	भुरिक्,(१)प्राजापत्यानिचृत्२
८	प्राजापत्या ०	याजुषी स्वराट्
९	,,	भुरिक्
१०	,,	स्वराट्,(१)साम्नी विराट्(२)
११	साम्नी	निचृत्
१२	,,	०

तिस्रस्तिस्र इत्यनुवर्तते। यजुषां पङ्क्तेः प्राक् प्राजापत्या आसुरी दैवीति यास्तिस्रो गायत्र्यः, ताः संगताः सत्यश्चतुर्विंशत्यक्षरा एका आर्षी गायत्री भवति। ता एव तिस्र उष्णिहः संगता अष्टाविंशत्यक्षरा एका आर्षी उष्णिक् संपद्यते। तिस्रोऽनुष्टुभः संगताद्वात्रिंशदक्षरा एका आर्षी अनुष्टुब् भवति। ता एव तिस्रो बृहत्यः संगताः षट्त्रिंशदक्षरा एका आर्षी बृहती भवति। ता एव तिस्रः पङ्क्तयः संगताश्चत्वारिंशदक्षरा एका आर्षी पङ्क्तिर्भवति। ता एव तिस्रस्त्रिष्टुभः संगताश्चतुश्चत्वारिंशदक्षरा एका आर्षी त्रिष्टुब् भवति। ता एव तिस्रो जगत्यः संगताः अष्टाचत्वारिंशदक्षरा एका आर्षी जगती भवति। अत्र प्रथमायां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे आर्षीशब्दं व्यवस्थाप्य द्वितीयादिषु क्रमेण चतुर्विंशत्याद्यङ्कान् विन्यसेत्। प्रथमपङ्क्तेर्द्वितीयादिकोष्ठेष्वङ्कानामुपरि गायत्र्यादीनि नामानि विन्यसेत्। अयं स्पष्टतरः प्रदर्शनोपायः—

तिस्र तिस्र इन पदों की अनुवृत्ति आती है। प्राजापत्या, आसुरी और दैवी-गायत्री, इन तीनों छन्दोंकी मिलानेसे [२४] अक्षरकी एक आर्षी गायत्री होती है। इसी प्रकार प्राजापत्या, आसुरी, और दैवी इन तीनों प्रकारके उष्णिक्

अक्षरा	गायत्री	विशेषनाम	अक्षरा	गायत्री	विशेषनाम
१३	,,	भुरिक्(१) आसुरी विराट्(२)	२३	,,	निचृत्
१४	,,	स्वराट(१) आसुरी निचृत्(२)	२४	,,	०
१५	आसुरी	०	२५	,,	भुरिक्
१६	,,	भुरिक्,(१) आर्ची विराट्[२]	२६	,,	स्वराट्
१७	,,	स्वराट्[१] आर्ची निचृत[२]	३४	ब्राह्मी	विराट्
१८	आर्ची	०	३५	,,	निचृत्
१९	,,	भुरिक्	३६	,,	०
२०	,,	स्वराट्	३७	,,	भुरिक्
२१	पादनिचृत्	०	३८	,,	स्वराट्
२२	आर्षी	विराट्			

उष्णिगादिच्छन्दसामप्यनया रीत्याक्षरसंख्योहनीया। एवमेवाथर्ववेदोक्तमन्त्रेष्वपि छन्दःसमाधानमूह्यम्।

छन्दोंके मिलानेसे [२८] अक्षरोंमें एक आर्षी उष्णिक्, प्राजापत्या, आसुरी, और दैवी अनुष्टुप्के मिलानेसे [३२] अक्षरोंका एक आर्षी अनुष्टुप् छन्द, प्राजापत्या, आसुरी और दैवी बृहती, इन तीन छन्दोंके मिल जानेमें [३६] अक्षरोंकी एक आर्षी बृहती, प्राजापत्या, आसुरी और दैवी पंक्तिके मिलनेसे [४०] अक्षरोंकी एक आर्षी पंक्ति, प्राजापत्या, दैवी, और आसुरी इन तीनों प्रकार त्रिष्टुप् छन्दों को मिला देने से [४४] अक्षरोंका एक आर्षी त्रिष्टुप् छन्द, एवं प्राजापत्या, आसुरी और दैवी जगती, इन तीनोंके मिल जानेसे [४८] अक्षरों को एक आर्षी जगती होती है।

(श्रीहलायुधभट्टविरचितं चतुःषष्टिकोष्ठात्मकं मण्डलम्)

	छन्दः	गायत्री	उष्णिग्	अनुष्टुब	बृहती	पङ्क्तिः	त्रिष्टुब्	जगती	अक्षाना वृद्धिक्षय क्रम
१	आर्षी	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८	४ वृद्धिः
२	दैवी	१	२	३	४	५	६	७	१ वृद्धिः
३	आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	१ ह्रासः
४	प्राजापत्या	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२	४ वृद्धिः
५	याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२	१ वृद्धिः
६	साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४	२ वृद्धिः
७	आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६	३ वृद्धिः
८	ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२	६ वृद्धिः*

इति भट्टहलायुधकृतायां छन्दोवृत्तौ द्वितीयोऽध्यायः ॥

पूर्वोक्त मण्डलकी पङ्क्तिके प्रथम कोष्ठमें आर्षी शब्द लिखकर, द्वितीय कोष्ठमें [२४], तृतीय कोष्ठमें [२८], चतुर्थ कोष्ठ में [३२], पञ्चम कोष्ठमें [३६], षष्ठ कोष्ठमें [४०], सप्तम कोष्ठ में [४४], और अष्टम कोष्ठमें [४८], अङ्क बैठाना चाहिये और द्वितीय कोष्ठके ऊपर गायत्री, तृतीय कोष्ठके ऊपर उष्णिक्, चतुर्थ कोष्ठके ऊपर अनुष्टुप्, पञ्चम कोष्ठके ऊपर बृहती, षष्ठ कोष्ठके ऊपर पङ्क्ति, सप्तम कोष्ठके ऊपर त्रिष्टुप् और अष्टम कोष्ठके ऊपर जगती, इस प्रकार सातों छन्दका नाम लिख देना चाहिये।

वृत्तिकार हर एक सूत्रमें छन्दोंके भेद भली भांति समझनेके लिये किस पंक्तिके किस प्रकोष्ठमें कितने अङ्क बैठाने चाहिये यह दिखलाते आये हैं। अब उन सबको मिला देनेसे एक पूर्ण मण्डल बन जाता है। जिसे ऊपर दिखाया गया है। यही मण्डल ही समस्त वैदिक छन्दोंके भेदोंको जाननेका एक सर्वोत्तम उपाय है।

इति सान्यालोपाह्व श्री अयोध्यानाथशास्त्रिविरचितायां कादम्बिन्याख्य भाषाटीकायां द्वितीयोऽध्यायः।

अथ तृतीयोऽध्यायः।

पादः ॥ १ ॥

अधिकारोऽयमाध्यायपरिसमाप्तेः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत् 'पादः' इत्यधिकृतं वेदितव्यम्। वक्ष्यति च—'गायत्र्या वसवः' (पि० सू० ३।३) इति ॥ १ ॥

कादम्बिनी।

तृतीय अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त 'पाद' शब्दका अधिकार रहेगा। अर्थात् इसके आगे जो कुछ कहा जायगा वह 'पाद' के विषयमें ही कहा जायगा। द्वितीय अध्यायमें गायत्र्यादि छन्दोंमें कितने अक्षर होते हैं और अक्षरोंके भेदसे गायत्री आदि छन्दोंके कितने भेद होते हैं इसका विचार किया गया; परन्तु किस छन्दमें कितने पाद होते हैं इसका विचार नहीं किया गया है। इस अध्यायमें गायत्री आदि सातों छन्दोंमें किसके कितने पाद होते हैं और उन पादोंके भेद होनेसे गायत्री आदि छन्दोंके भी भेद हो जाते हैं इसका विवेचन किया जायगा।

परन्तु पाद शब्दके अधिकारसे केवल सूत्रार्थ करनेमें सहायता होती है। जैसे (गायत्र्या वसवः'') यह इस अध्यायका तीसरासूत्र है—इसमें पाद शब्दकी उपस्थिति होनेसे जहां पर गायत्रीके पाद शब्दसे कहा जायगा वहां पर वसु अर्थात् आठ संख्याका बोध होता है ॥१॥

इयादिपूरणः ॥ २ ॥

'पादः' इत्यनुवर्तते। इयादिः पूरणो यस्य स इयादिपूरणः। आदिशब्देन उवा(*)दयोऽपि गृह्यन्ते। तत्रायमर्थः-यत्र गायत्र्यादिच्छन्दसि,

---

(*) 'उवादय' इत्यादिशब्देन यण्संयोगसवर्णदीर्घगुणवृद्धिव्यूहादयो गृह्यन्ते। तथा च शौनकः—

व्यूहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषुसम्पदे: क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान् व्यपेयात्सदृशैः स्वरैः॥' इति (ऋ० पा० १७।२३।)

सर्वानुक्रमणिकाकारोऽपि

'पादपूरणार्थन्तु क्षैप्रसंयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेत्' (१।३)

अत्रैतद्भाष्यकारश्च 'क्षैप्रसंयोगो यकारवकार संयोगः, यण् संयोग इत्यन्ये, । कुतएतत् यण् हि चिप्रं भवति इति क्षैप्रः। दध्यत्रेत्यादावेकमात्रामर्धमात्रां करोतीति । 'एकः पूर्वपूरयोः (पा० सू० ६।१।८४) इत्यविकारसम्पन्नःसंधिरेकाक्षरीभावः। तद्वद्देऽक्षरे एकाक्षरीक्रियेते इति। तत्र यण्व्यहोयथा—(यण्पदेन यरलवा गृह्यन्ते)

'दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतम्' (ऋ० सं० ४।७।३५२)

'नि नो होता वरेण्यः' (ऋ० सं० १।२।२०।२)

इत्यादौ 'परियोजः' वरेणियः' इति यकारं व्यूहेत

'एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्' (ऋ० सं० ३।६।२।१।)

इत्यादौ 'वजरिन' इति रकारं व्यूहेत्।

सवर्णदीर्घव्यूहो यथा—

'अद्याद्याश्वश्व' (ऋ० सं० ६।४।३९।२)

इत्यादावद्य अद्य इति सवर्णदीर्घं व्यूहेत।

गुणव्यूहो यथा—

उपेन्द्र तव वीर्ये (ऋ० स० ५।४।६।१)

इत्यादौ 'उप इन्द्र' इति विगृह्य पठेत

पादस्याक्षरसंख्या न पूर्यते, तत्रेयादिभिः पूरयितव्या। यथा-'तत्स- वितुर्वरेणियम्' (ऋ० सं० ३।४।१०।५), 'दिवं गच्छ सुवः पत' (यजु० १२।४) इत्यादयः ॥ २ ॥

पाद शब्दका अधिकार आ रहा है। 'इयादिपूरणः'का अर्थ है कि (इयादि शब्द पूर्ण करने वाला शब्द है जिस पाद का। आदि शब्द से उव्, पूर्वसवर्ण् आदि का भी ग्रहण समझना। अर्थात् गायत्री आदि छन्दोंके किसी पादमें यदि अक्षर संख्या कम हो तो उस न्यून अक्षरोंकी पूर्ति इय्, उव आदि पदोंसे करना चाहिये। जैसे आर्षी गायत्रीके प्रथम पादमें आठ अक्षर होते हैं। परन्तु (तत्सवितुर्वरे- ण्यम्) गायत्रीके इस पादमें सात ही अक्षर देख पड़ते हैं। इसलिये (तत्सवितु वरेणियम्) ऐसा पाठ करना चाहिये। इससे गायत्रीके इस पादमें आठ अक्षर हो जाते हैं।

गायत्र्या वसवः ॥ ३ ॥

'पादः इत्यनुवर्तते। परिभाषेयम्। गाय(*)त्र्याः पादो वसवोऽष्टा- क्षराणि भवन्ति। यत्र गायत्र्याः पादोऽभिधास्यते तत्राष्टाक्षरो ग्राह्यः

'पादः' सूत्रसे पाद पदकी अनुवृत्ति आती है। यह परिभाषा सूत्र है। गायत्री का पाद आठ अक्षरोंका होता है इसलिये जहाँ कहीं गायत्रीके पाद शब्दसे व्यवहार किया जायगा वहां पर आठ अक्षरोंका बोध होता है। इस सूत्र में गायत्री शब्दसे आर्षी गायत्रीका ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि ब्राह्मी

वृद्धिव्यूहो यथा—

'प्र ब्रह्मै तु सदनादृतस्य' (ऋ० मं० ५।४।१।१)

इत्यादौ 'ब्रह्म एतु' इति विगृह्य पठेत्।

पूर्वसवर्णव्यूहो यथा—

'इन्द्र वाजेषु नोऽव' (ऋ० सं० १।१।१३।४)

इत्यादौ 'नो अव' इति विगृह्य पठेत्।

(*) अत्रेदमवधेयं. यद्यपि दैव्यादि गायत्रीषु न्यूनाधिकसंख्याः सन्ति तथापि निरूपाधिकगायत्री शब्देनार्षीगायत्री एव गृह्यते। "गायत्री सा चतुर्विंशत्यक्षरा अष्टाक्षरास्त्रयः पादाः।" इति ऋक्प्रतिशाख्ये (११।१६) दर्शनात्। वस्तुतस्तु गुणवृध्यादितत्रातरीयसंज्ञा इव गायत्री पादत्वादीनामपि स्वशास्त्रीयसंकेतविषयत्वावच्छेदकं तेन जगती पादादीनां द्वादशाक्षरत्वादिना क्वचिदप्रसिद्धावपि न क्षतिः।

गायत्री आदिका पाद नव अक्षरोंका भी होता है। ऋक्-प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में गायत्री शब्दसे आर्षी गायत्रीका ही व्यवहार देखा जाता है ॥३॥

जगत्या आदित्याः ॥ ४ ॥

'पादः' इत्यनुवर्त्तते। जगत्याः पादो द्वादशाक्षरो भवति। यत्र क्वचिज्जागतः पादस्तत्र द्वादशाक्षरो गृह्यते ॥४॥

"पादः" सूत्रमें पाद पदकी अनुवृत्ति आती है। यह परिभाषा सूत्र है। जगतीका पाद द्वादश अक्षरका होता है। जहां कहीं जगतीका पाद कहा जाय वहां बारह अक्षर समझना चाहिये ॥४॥

विराजो दिशः ॥ ५ ॥

'पादः' इत्यनुवर्तते। यत्र क्वचिद्वैराजः पाद इत्युच्यते, तत्र दशाक्षरः प्रत्येतव्यः ॥ ५ ॥

(पादः) इस पदकी अनुवृत्ति आती है। जहां कहीं विराट् का पाद ऐसा कहा जाय वहां दस अक्षर समझना चाहिये ॥ ५ ॥

त्रिष्टुभो रुद्राः ॥ ६ ॥

त्रैष्टुभः 'पादः' इत्युक्ते सर्वत्रैकादशाक्षरो गृह्यते। अस्मिन्नेवाध्याये परिभाषा एताश्चतस्रः ॥ ६ ॥

जहां कहीं 'त्रिष्टुभका पाद' ऐसा व्यवहार किया वहां ग्यारह अक्षर समझना। केवल इसी अध्यायमें ही इन चार परिभाषायोंका प्रयोग किया जायगा (अन्यत्र नहीं) ॥६॥

एकद्वित्रिचतुष्पादुक्तपादम् ॥ ७ ॥

एभिश्चतुर्भिर्लक्षणैरुक्तः पादो यस्य तत् 'उक्तपादं' छन्दः। यस्य च्छन्दसो यादृशः पादः परिभाषितस्तच्छन्दस्तेनैव पादेन क्वचिदेकपात्, क्वचिद्द्विपात्, क्वचित्त्रिपात्, क्वचिच्चतुष्पाद् भवति। गायत्री च त्रिपदैव(*)। चतुर्भिरष्टाक्षरैः पादैरनुष्टु(†)बेव स्यात् ॥७॥

(*) वैदिकच्छन्दोमन्त्रविषयकमिदं, लौकिकं तु 'पादश्चतुर्थभागः'। (पिं० सू० ३।१०) इति विशेषस्य वक्ष्यमाणत्वात्। 'छन्दः एकादिपादकम्'। (१३०।२) इत्यादिनिये 'पञ्च रक्तः षट्' इति सांख्यायन सूत्रे (७।२७)।

(†) उपलक्षणमेतत् द्वादशाक्षरपादादीनामपि।

पूर्वोक्त चार सूत्रोंसे जिन छन्दोंमें जैसा पाद कहा गया हो वह छन्द उसी पादसे कहीं एक पाद, कहीं द्विपाद, कहीं त्रिपाद और कहीं चतुष्पाद होता है परन्तु गायत्री त्रिपाद ही होती है; क्योंकि आठ अक्षरोंसे युक्त चार पद जिस छन्दमें हों उसे अनुष्टुप् ही कहते हैं ॥७॥

आद्यं(*) चतुष्पादृतुभिः ॥ ८ ॥

'ऋतु' शब्देन लक्षणया षडक्षरः पादोऽभिधीयते। तैः पादैश्चतुष्पादं गायत्रं छन्दो भवति। एवं चतुर्विंशत्यक्षराणि संपद्यन्ते। यथा—

'दोषो गाय बृहद् (१) गाय द्युमद्धेहि (२)।
आथर्वण स्तुहि (३) देवं सवितारम् (४) ॥'
(अथर्ववेदे-कां० ६ सू० १ मं०) ॥ ८ ॥

ऋतु शब्दकी छः अक्षरों से युक्त पादमें लक्षणा है। अर्थात् जिसके हरएक पादमें छः छः अक्षर हों ऐसे चार पादोंसे युक्त भी गायत्री छन्द होता है। जैसे अथर्ववेदके उक्त उदाहरणमें (२४) अक्षरोंके चार पाद देखे जाते हैं ॥८॥

क्वचित्त्रिपाद्दृषिभिः ॥ ९ ॥

क्वचिद्वेदे सप्ताक्षरोपलक्षितैः पादैस्त्रिभिर्गायत्र्येव भवति। एवमेकविंशत्यक्षराणि जायन्ते। यथा—

'युवाकु हि शचीनां (१) युवाकु सुमतिनाम् (२)।
भूयाम वाजदाव्नाम् (३) ॥'
(ऋग्वेदे-अ० १ अ० १ व० ३२ मं०) ॥ ९ ॥

जिसके प्रत्येक पादमें सात अक्षर हों इस प्रकार तीन पादोंसे युक्त इक्कीस अक्षरोंका भी गायत्री छन्द किसी वेदमें देखा जाता है। कहीं पर वेदमें सात अक्षरोंसे युक्त तीन पाद वाले छन्दकी गायत्री संज्ञा ही होती है। इसी प्रकार इक्कीस अक्षरोंका भी गायत्री छन्द होता है ॥९॥

(*) आद्यमिति- अस्मिन्नध्यायेऽनुक्रान्तेषु प्रथमम्। सकलच्छन्दसामादिभूतश्च। 'गायत्री प्रथमा छन्दसाम्' इति शतपथश्रुतेः। गीतासु च स्वयं भगवता 'गायत्री छन्दसामहम्' (१०।३५) इत्युक्तत्वात् प्रधानभूतश्चेति षड्गुरुशिष्यः॥

ईदृशस्य गायत्रीछन्दसो वेदेषु प्रायोऽदर्शनात्, उत्तरत्र लक्षितस्य सप्ताक्षरपादत्रयोपेतस्य सर्वत्रैव बाहुल्येनोपलम्भात्। गायत्र्यास्त्रिपादत्वस्यैव प्रसिद्धेश्च 'आद्यं चतुष्पादृतुभिः क्वचित्' इति सूत्रपाठ एव युक्तः। 'लक्ष्यानुसारि हि लक्षणं भवति' इति न्यायात्।

सा पादनिचृत् ॥ १० ॥

सैव(*)गायत्री पादनिचृत्' इति संज्ञां लभते। प्रयोक्तुरदृष्टाभ्युदय-संबन्धज्ञापनार्थमियं संज्ञा वेदस्यानादित्वान्महत्त्वेऽपि च न दुष्टेति ॥१०॥

उसी सात अक्षरोंकी त्रिपदा गायत्रीको 'पादनिचृत्' कहते हैं। इसके प्रयोग करनेवालेको शुभ अदृष्ट उत्पन्न होता है। इसी बातको सूचित करनेके लिये ही ऐसी संज्ञा की गयी है। चृत्का अर्थ हिंसा करना हैं और नि उपसर्ग लग जानेसे उसका विपरीत अर्थ हिंसा न करना है। अर्थात् जिस छन्दके प्रयोग करनेसे यज्ञमानका किसी प्रकार भी हनन न हो। वह शुभ अदृष्ट से ही हो सकता है। यही भाव इस प्रकार संज्ञा करने का है ॥१०॥

षट्कसप्तकयोर्मध्येऽष्टावतिपादनिचृत् ॥११॥

प्रथमः षडक्षरः, द्वितीयोऽष्टाक्षरः, तृतीयः सप्ताक्षरः। एवं त्रिभिः पादैर्या गायत्री सा 'अतिपादनिचृत्' इति संज्ञा लभते। 'त्रिपात्' इत्यनुवर्तनीयम्। यथा—

'प्रेष्ठं वो अतिथिं (१) स्तुषे मित्रमिव प्रियम् (२)।
अग्निं रथं न वेद्यम् (३) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ६ अ० ६ व० ५ मं० १) ॥११॥

जिस गायत्री छन्दके प्रथमपादमे छः अक्षर, द्वितीय पाद में आठ अक्षर, और तृतीय पाद में सात अक्षर हों उसे 'अतिपादनिचृत्' कहते हैं।

द्वौ नवकौ षट्कश्च नागी ॥ १२ ॥

द्वौ नवाक्षरौ पादौ, षडक्षरस्तृतीयः। एवं त्रिभिः पादैः 'नागी' नाम गायत्री भवति। यथा—

(*) तथा च कात्यायनः-"यः सप्तकाः पादनिचृत् शौनकेनाप्युक्तं, ऋक्प्रातिशाख्ये (१६।१८)—

युवाकु हीति गायत्री त्रयः सप्ताक्षराविराट्।
सैषा पादनिचृन्नाम गायत्र्यैवैकविंशिका ॥

यजुर्वेदेऽप्ययं दृश्यते।

अभी षु णः सखीनाम् (१) अविताजरितॄणाम्। (२)
शतं भवास्यूतये (३) (शु० य० २७।४१)

'अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः (१) क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम् (२)।
ऋद्ध्यामा त ओहैः (३) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ३ अ० ५ व० १० मं० १) ॥१२॥

जिस गायत्री छन्दके प्रथम दो पादोंमें नौ अक्षर और तृतीयपादमें छः अक्षर हों उस त्रिपदा गायत्री को 'नागी' कहते हैं ॥ १२ ॥

विपरीता वाराही ॥ १३ ॥

इयमेव नागी गायत्री विपरीता यदा भवति, तदा 'वाराही' नाम भवति। प्रथमः पादः षडक्षरः द्वितीयतृतीयौ नवाक्षरौ। यथा—

'वीतँ स्तुके स्तुके (१) युवमस्मासु नियच्छतम् (२)।
'प्र(*) प्र यज्ञपतिं तिर (३)।'

(तै० आ० प्रपा० ३ अ० ११ मं० २०) ॥१३॥

यही नागी गायत्री यदि विपरीत हो जाय; अर्थात् प्रथम पादमें छः द्वितीय और तृतीय पादमें यदि नौ अक्षर हों तो उसे वाराही गायत्री' कहते हैं।

षट्(†)कसप्तकाष्टकैर्वर्धमाना ॥ १४ ॥

षडक्षरः प्रथमः पादः, द्वितीयः सप्ताक्षरः, तृतीयोऽष्टाक्षरः। एवं त्रिभिः पादैः 'वर्धमाना' गायत्री भवति। यथा—

'त्वमग्ने यज्ञानां (१) होता विश्वेषां हितः (२)।
देवेभिर्मानुषे जने (३) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ४ अ० ५ व० २२ मं० १) ॥१४॥

जिस गायत्री छन्दके प्रथम पादमें छः अक्षर द्वितीय पादमें सात अक्षर, और तृतीय पादमें अष्टाक्षर हों उसे वर्धमाना 'गयात्री' कहते हैं ॥ १४ ॥

(*) प्र इति व्यूहान्नवाक्षरत्वम्। उदाहरणान्तरं मृग्यम्।

(†) उदारणान्तरमपि यजुर्वेदे यथा—

कया त्वं न ऊत्या (१) भि प्र मन्दसे वृषन् (२) कया स्तोतृभ्य आ भर। (३) (शु० य० ३६।७।) प्रातिशाख्ये वर्धमानाया भेदान्तरमपि दृश्यते 'अष्टकौ मध्याःषट्क एकेषामुपदिश्यते।' (१४।२२) इति उदाहरणन्तु—निषसाद धृतव्रतो (१) वरुणः पस्त्या स्वा। (२) साम्राज्याय सुक्रतुः (३) (ऋ० सं० अ० १ अ० २ व० १७ मं० ६) तृतीयो व्यूहेनाष्टाक्षरः।

विपरीता प्रतिष्ठा ॥ १५ ॥

सैव वर्धमाना गायत्री विपरीता यदा भवति, तदा 'प्रतिष्ठा' नाम गायत्री भवति। अष्टाक्षरः प्रथमः पादः, द्वितीयः सप्ताक्षरः, षडक्षरस्तृतीयः। यथा—

'आपः पृणीत भेषजं (१) वरूथं तन्वे ३ मम (२)।
ज्योक्च सूर्यं दृशे (३) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० २ व० १२ मं० १) ॥१५॥

वही वर्धमाना गायत्री यदि विपरीत हो। अर्थात् जिसके प्रथम पादमें आठ द्वितीय पादमें सात और तृतीय पादमें छः अक्षर हों उसे 'प्रतिष्ठा' गायत्री कहते हैं।

तृतीयं द्विपाज्जागतगायत्राभ्याम्(*) ॥ १६ ॥

तृतीयशब्देनैतदध्यायस्थसूत्रपाठक्रमापेक्षया विराजमाह। तथा चोक्तम्—विराजो दिशः' (पि० सू० ३।५) इति। यदा द्वादशाक्षरोऽष्टाक्षरश्च पादः स्यात् ततस्ताभ्यां 'द्विपाद् विराड्' नाम गायत्री भवति। यथा—

'नृभिर्येमानो हर्यतो विचक्षणो (१) राजा देवः समुद्रियः (२) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ७ अ० ५ व० १५ मं० १) ॥ १६ ॥

कादम्बिनी।

तृतीय शब्दसे यहां पर तृतीय अध्यायस्थसूत्रके पाठ क्रमकी अपेक्षासे विराट् का ग्रहण करना चाहिये 'विराजो दिशः' (पि० सू० ३।५) इस सूत्रसे दश अक्षरकी 'विराट' संज्ञा कही गयी है।

जिस गायत्रीके एक पादमें (१२) अक्षर और एक पादमें (८) अक्षर हों उसे 'द्विपाद् विराट्' नामकी गायत्री कहते हैं।

(*) अत्रक्रमोऽविवक्षितः। जागतग्रहणं त्रैष्टुभस्याप्युपलक्षणकम्। तेन—

'वसुरग्निर्वसुश्रवा (१) अच्छानक्षिद्युमत्तमं रयिंदाः (२)

(ऋ० सं० अ० ४ अ० १ व० १६ मं० २)

इत्यादीनामपि सङ्ग्रहः। यद्यपि भूम्ना विराडाख्यं स्वतन्त्रमेवच्छन्दः श्रूयते। तथापि लाघवार्थमस्य भेदानां तत्र तत्रान्तर्भावः सप्तछन्दोवादावष्टम्भे न विहित इति बोध्यम्।

त्रिपात्त्रैष्टुभैः ॥ १७ ॥

'तृतीयम्' इत्यनुवर्तते। एकादशाक्षरैः पादैः 'त्रिपाद् विराड्' नाम गायत्री (*)भवति। यथा—

'दुहीयन्मित्रधितये युवाकु (१) राये च नो मिमीतं वाजवत्यै(२)। इषे च नो मिमीतं धेनुमत्यै (३) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० ८ व० २३ मं० ४) ॥ १७ ॥

तृतीय शब्दकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें भी आती हैं। तृतीय शब्दसे विराट् का ग्रहण होता है यह कहा गया हैं। और त्रिष्टुभ शब्दमें ग्यारहका ग्रहण होता है। 'त्रिष्टुभो रुद्राः' (३।६)

इसलिये सूत्रार्थ यह हुआ कि जिस गायत्री छन्दको ग्यारह ग्यारह अक्षर तीनों पादोंमें होते हों उसे त्रिपाद् विराड् नामकी गायत्री कहते हैं ॥ १७ ॥

उष्णि(†)ग्गायत्रौ जागतश्च ॥ १८ ॥

यत्र गायत्रावष्टाक्षरौ पादौ, जागतश्च द्वादशाक्षरः, एवं त्रिभिः

(*) शौनककात्यायनाभ्यां त्विदमनुष्टुब्भेदेषु परिगणितम्)

तृतीयाध्यायगायत्र्या भेदाः सङ्क्षेपतः प्रदर्श्यन्ते।

(१) आर्षीगायत्री (८, ८, ८,=२४)
(२) पाद निचृत् गायत्री—(७, ७, ७=२१)
(३) अतिपाद निचृत् गायत्री—(६, ८, ७=२१)
(४) नागीगायत्री—(९, ९, ६=२४)
(५) वाराही गायत्री—(६, ९, ९=२४)
(६) वर्धमानागायत्री—(६, ७ ८=२१)
(७) प्रतिष्ठा गायत्री—(८, ७, ६=२१)
(८) द्विपाद् विराट्गायत्री—(१२, ८=२०) द्विपाद्
(९) त्रिपाद् विराट गायत्री—(११, ११, ११=३३)

अथमत्र संग्रहः

आर्षी पाद निचृन्नागी ह्यतिपादनिचृत्तथा। वाराही च प्रतिष्ठा च वर्धमाना द्विपाद्विराट् ॥१॥ ततस्त्रिपाद् विराट् चैव भुक्तिमुक्ति प्रदायिनी। महद्भिर्वेदविद्प्राज्ञै गायत्र्यो न वधा स्मृताः ॥२॥

(†) उष्णिक् शब्द निर्वचनमाह निरुक्ते (७।१२)। उष्णिक् उत्स्नाता भवति।' गायत्रीतृचतुर्भिरक्षरैरधिकैरूर्द्ध्वे ष्टिता इव। 'स्निह्यतेर्वास्यात्कान्ति कर्मणः'। उदधिकं स्निग्ध हि देवानामिति तदर्थः। 'उष्णिषिणी वा इत्यौपमिकम्'। उपमानिबन्धनमुष्णीषवतीव भवति। चत्वार्यक्षराण्यन्यस्या गायत्रीतोऽधिकान्युष्णीषमिवलक्ष्यन्ते तेनेयमुष्णिक्।

पादैः 'उष्णिग्' नाम छन्दो भवति । अत्र च क्रमो न विवक्षितः । पादसंख्यामात्रं विधीयते ॥ १८ ॥

जिस छन्दके दो पाद आठ अक्षरके और एक पाद बारह अक्षरका हो उस त्रिपाद छन्दको उष्णिक् कहते हैं। इस छन्दमें किन पादोंमें आठ अक्षर हों और किन पादोंमें बारह अक्षर हों यह नियमित नहीं है। नियम है केवल आठ और बारह अक्षर वाले तीन पाद मात्रका ॥ १८ ॥

क(*)कुम्मध्ये चेदन्त्यः ॥ १९ ॥

गायत्रयोः पादयोर्मध्ये जागतश्चेत्पादो भवति, तदेयम् उष्णिक् 'ककुप' सञ्ज्ञां लभते । यथा

'युष्माकं स्मा रथां' अनु (१) मुदे दधे मरुतो जीरदानवः (२) । वृष्टीद्यावो यतीरिव (३) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ४ अ० ३ व० ११ मं० ५) ॥ १६ ॥

पूर्व सूत्रमें जो अन्त कहा गया है वही यदि मध्यमें हो। जैसे-पूर्व सूत्रमें जागत शब्दका उल्लेख अन्तमें है और जागत शब्दसे पूर्वपरिभाषाके अनुसार बारह अक्षरोंका ग्रहण होता है । इसलिये सूत्रार्थ यह हुआ कि जिस छन्दका

(*) ककुभो निर्वचनमित्थं निरूक्ते (७।१८) 'ककुप् ककुभिनी भवति' सैवोष्णिक् जागतेनपादे नोपहतेन मध्यतः कुकुबित्युच्यते । सतस्यामध्यतः कुबुबिव भवति । ककुभिनीव ककुप् । तथा च कुकुब् । वत्वाच्छन्दोऽपि ककुप् । ककुबिति पृष्ठे समुन्नतः प्रदेशः, यच्च कुब्जस्येव भवति । 'ककुप् कुब्जश्च–कुजतेर्वा उब्जतेर्वा' । कौटिल्यार्थकस्य कुजतेः ककुप् रूपं भवति । तेन हि वक्रतामावद्यते । ३। अप्सु अन्तः इति न्यूहात्पादपूर्तिः ।

अथ संक्षेपत, उष्णिग्भेदाः प्रदर्श्यन्ते

ककुप् (८ । १२ । ८) ॥ १ ॥
पुरउष्णिक् (१२ । ८ । ८) ॥ २ ॥
परोष्णिक् (८ । ८ । १२) ॥ ३ ॥
चतुष्पाद् (७ । ७ । ७ । ७)

अयमत्रसङ्ग्रहः।

पुर उष्णिक् परोष्णिक् च चतुष्पाद्य ककुब्तथा । महर्षिपिङ्गलाचार्यैं चतस्र उष्णिहः स्मृताः॥ १ ॥
आद्यन्तमध्यगायासां पादाभवन्ति जागताः । गायत्र्यथान्यपादेषु त्रिपाद उष्णिहः श्रुताः ॥ २ ॥
ततश्च चरणैर्वेदैर्चतुष्पाच्च' चतुः पदा । चतुर्षुचापिवेदेषु चरत्येकाकिनी पृथक् ॥ ३ ॥

प्रथम और अन्तका पाद आठ अक्षरोंका हो और बीचका पाद यदि बारह अक्षरोंका हो तो उस उष्णिक् छन्दकी 'ककुप्' संज्ञा होती है ।

पुरउष्णिकपुरः ॥ २० ॥

स एव पादो जागतश्चेत् प्रथमो भवति, गायत्री च परतः, तदा 'पुरउष्णिक्' नाम भवति । यथा—

"अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषज (१) मपामुत प्रशस्तये (२)। देवा भवत वाजिनः (३) ॥"

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० २ व० ११ मं० ४) ॥ २० ॥

जिस छन्दके पहिले पादमें बारह अक्षर, और शेष दो पाद आठ आठ अक्षर के हों उसे 'पुरउष्णिक्' कहते हैं ॥ २० ॥

परोष्णिक् परः ॥ २१ ॥

एवं जागतः पादः परतश्चेद्भवति, पूर्वौ च गायत्रौ, तदा 'परोष्णिक्' नाम छन्दो भवति ।

'उष्णिग्गायत्री जागतश्च' (पि० सू० ३।१८) इत्यनेन गतार्थमेतत्। विशेषसंज्ञाभिधानार्थं पुनरुच्यते । प्रथमसूत्रे (पि० सू० ३।२०) उष्णिग्ग्रहणमधिकारार्थम् ।

यथा—

'अग्ने वाजस्य गोमत (१) ईशानः सहसो यहो (२) ।
अस्मेधेहि जातवेदो महि श्रवः (३) ॥'

(ऋग्वेदे-म० १ अ० ५ व० २७ मं० ४) ॥ २१ ॥

जिस छन्दका अन्तिम पाद बारह अक्षरोंका हो और आदिके दो पाद आठ अक्षरोंके हों उसे 'परोष्णिक' कहते हैं ।

चातुष्पाद्दर्षिभिः ॥ २२ ॥

सप्ताक्षरैश्चतुर्भिः पादैः 'उष्णिक्' एव भवति । यथा—

'नदं व ओदतीनां (१) नदं यो युवतीनाम् (२) ।
पतिं वो 'अघ्न्यानां (३) धेनूनामिषुध्यसि (४) ॥'

(ऋग्वेदे-म० ६ अ० ५ व० ५ मं० २ ॥ २२ ॥

जिस छन्दके प्रत्येक पादमें सात अक्षर हों और चार पाद हों, उस चतुष्पाद छन्द को भी 'उष्णिक्' कहते हैं ॥ २२ ॥

अनुष्टुब्गायत्रैः ॥ २३ ॥

'चतुष्पाद्' इत्यनुवर्तते। गायत्रैरष्टाक्षरैः पादैश्चतुष्पाच्छन्दः "अनुष्टुप्" संज्ञं भवति। यथा—

"सहस्रशीर्षा पुरुषः (१) सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा (३) त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् (४) ॥"

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ४ व० १७ मं० १) ॥ २३ ॥

पूर्व सूत्रसे 'चतुष्पाद' शब्द की अनुवृत्ति आती है। जिस छन्दमें गायत्री के चार पाद हों। अर्थात् जिस छन्दके चार पाद हों और प्रत्येक पादमें आठ आठ अक्षर हों उसे अनुष्टुप् कहते हैं। आर्षी गायत्रीमें आठ आठ अक्षरों के तीन पाद होते हैं और अनुष्टुप्में आठ आठ अक्षरोंके चार पाद होते हैं। यही आर्षी गायत्री और अनुष्टुप् में अन्तर है ॥ २३ ॥

त्रिपात्क्वचिज्जागताभ्यां च ॥ २४ ॥

'अनुष्टुब्' इत्यनुवर्तते। चकाराद् गायत्रग्रहणं च। गायत्रेणैकेन पादेन, ततो द्वाभ्यां जागताभ्यां क्वचित् 'त्रिपादनुष्टुब्' भवति ॥२४॥

'अनुष्टुप्' शब्द की अनुवृत्ति पूर्व सूत्रसे आती है। इस सूत्रमें 'च' ग्रहण है इससे 'गायत्र' पदकी भी अनुवृत्ति आती है। यदि एक पाद गायत्रीका हो शेष दो पाद जगतीके हों (अर्थात् एक पादमें आठ अक्षर और दो पादों मे बारह बारह अक्षर हों) तो उस त्रिपाद छन्द को भी अनुष्टुप् कहते हैं।

कौन पाद गायत्रीका हो और कौन पाद जगतीका हो यह क्रम अगले सूत्रमें कहा जायगा ॥ २४ ॥

मध्येऽन्ते च ॥ २५ ॥

जागतयोः पादयोर्मध्येऽन्ते च यदा गायत्रः पादो भवति, तदाप्यनुष्टुबेव स्यात्। यथा—

'पर्यूषु'प्र ध(*)न्व वाजसातये (१) परिवृत्राणि सक्षणिः (२)। द्विषस्तर(†)ध्या ऋणया न ईयसे (३) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ७ अ० ५ व० २२ मं० १)

(*) (†) 'प्रधनुव "आविया" इत्युवियशब्दाभ्यां पादपूर्त्तिः।

अन्तपश्च उदाहरणम्—

'मा कर्म भ्रातमस्य(*)मित्रिणे नो (१) माकुत्रा नो गृहेभ्यो धेनवो गुः(२) । स्तनाभुजो(†) अशिश्वीः (३) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० ८ व० २३ मं० ३) ॥ २५ ॥

(क) जगतीके दो पाद आदिके और अन्तके ही बीचका पाद गायत्रीका हो। अर्थात् जिस छन्दके पहिले पादमें बारह अक्षर दूसरेमें आठ अक्षर और तीसरे पादमें पुनः बारह अक्षर हों तो इस प्रकार का भी त्रिपाद अनुष्टुप् कहा जाता है।

(ख) जिस छन्दके पहिले पादमें बारह, दूसरे पादमें बारह और तीसरे पादमें आठ अक्षर हों इस प्रकार का भी 'त्रिपाद् अनुष्टुप्'(‡) कहा जाता है।

बृह(§)ती जागतस्त्रयश्च गायत्राः ॥ २६ ॥

एको जागतः पादः, त्रयश्च गायत्राः, तदा 'बृहती' नाम छन्दो भवति। यथा—

'मत्स्वा सुशिप्र हरिवस्तदीमहे(१)त्वे आ भूषन्ति वेधसः (२)।
तव श्रवास्युपमान्युक्थ्या सुतेष्विन्द्र गिर्वणः (४) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ६ अ० ७ व० ३ मं० २) ॥२६॥

(*)-(†) अभिय' (अशिशुवी) इति पादपूर्तिः (‡) अनुष्टुब्पदनिर्वचनं निरुक्ते (७-३-१२) "अनुष्टुबनुष्टोभनात्। अनुपश्चाद् स्तोमनापादबन्धैकरोधनात्। किंयिदमनुष्टोभनमिति तत्रैवाह 'गायत्रीमेव त्रिपदां सती चतुर्थेन पादेनानुष्टोभतीति च ब्राह्मणम्। गायत्री त्रिभिरष्टाक्षरैः पादैः समाप्यते तस्याश्च पुनरपरश्चतुर्थपादो भवति येन तामेव गायत्रीमनुष्टोमति प्रतिरुणद्धि तस्मादनुष्टुबित्यर्थः।

ननु त्रिपादप्यनुष्टुब्भवतीत्युक्तत्वात्तत्रोक्तान्वर्थस्यानर्थकयमिति शङ्क्यम्, तस्य कान्चित्कत्वात् 'आधिक्येन व्यपदेशा भवति'ति व्यपदेशनियमात्।

अनुष्टुब्भेदाः क्रमतो

(८, ८, ८, ८,) ॥ १ ॥
(१२, ८, १२) ॥ २ ॥
(१२, २, ८) ॥ ३ ॥

अयमत्र संग्रहः।

पादे यदाऽक्षराण्यष्टौ गायत्रीतिबुधैः स्मृता। चतुर्थपादयुक्त्यैव सानुष्टुप्संज्ञका भवेत् ॥ १ ॥
गायत्री यदि मध्यस्था भवेदन्तर्गता पिवा। जगत्यः शिष्टपादेषु साचानुष्टुब्भवेत्त्रिपात् ॥ २ ॥

इत्यनुष्टुप्प्रकरणम्।

(§) बृहती परिबर्हणात्' (नि ७।१२।१०)

जिस छन्दमें जगतीका एक पाद और शेष तीन पाद गायत्रीके हों (अर्थात् जिस छन्दके किसी एक पादमें बारह अक्षर हों और शेष तीन पादोंमें आठ आठ अक्षर हों) उसे 'बृहती' छन्द कहते हैं ॥ २६ ॥

पथ्या पूर्वश्चेत्तृतीयः ॥ २७ ॥

'बृहती' इत्यनुवर्तते। *पूर्वः पादो जागतो यदि तृतीयो भवति, अन्ये गायत्राः, तदासौ बृहती 'पथ्या' नाम छन्दो भवति। यथा—

'मा चिदन्यद्विशंसत (१) सखायो मा रिषण्यत (२)।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते (३) मुहुरुक्था च शंसत (४)॥
(ऋग्वेदे-अ० ५ अ० ७ व० १० मं० १) ॥ २७ ॥

पूर्वसूत्रसे 'बृहती' पदकी अनुवृत्ति आती है। पूर्व सूत्रमें संज्ञीकोटिमें पठित प्रथम जगतीका पाद यदि तृतीय हो और प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ पाद यदि गायत्री के हों (अर्थात् जिस छन्दके प्रथम पादमें आठ, द्वितीयमें आठ, तृतीय पादमें बारह और चतुर्थ पादमें आठ अक्षरहों) उसे 'पथ्या बृहती' कहते हैं ॥ २७ ॥

न्यङ्कुसारिणी द्वितीयः ॥ २८ ॥

'पूर्वश्चेद्' इत्यनुवर्तते। पूर्वश्चेज्जागतः पादो द्वितीयो भवति, शेषाश्च गायत्राः, तदा 'न्यङ्कुसारिणी' नाम्नी बृहती भवति। यथा—

†'मत्स्यपायि ते महः (१) पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः (२)।
वृषा ते ‡वृष्ण इन्दु (३) र्वाजी सहस्रसातमः (४) ॥'
(ऋग्वेदे—अ० २ अ० ४ व० १८ मं० १) ॥ २८ ॥

पूर्वसूत्रसे पूर्व शब्दकी अनुवृत्ति चली आरही है। प्रथम सूत्रके संज्ञीकोटिमें प्रथम पठित जगतीका पाद वह यदि द्वितीय हो और शेष प्रथम, तृतीय और चतुर्थ पाद यदि गायत्रीके हों। (अर्थात् जिस छन्दके पहिले पादमें आठ अक्षर, दूसरेमें बारह अक्षर, तीसरे और चौथेमें फिर आठ आठ अक्षरहों) उसे 'न्यङ्कुसारिणी' बृहती कहते हैं ॥ २८ ॥

स्कन्धोग्रीवी क्रौष्टुकेः ॥ २९ ॥

इयमेव 'न्यङ्कुसारिणी' क्रौष्टुकेराचार्यस्य मतेन 'स्कन्धोग्रीवी'

---

* पूर्वं सूत्रे उद्देश्यकोटौ प्रथम इत्यर्थः।

† 'मत्सीय' इति। ‡ 'वृषण इति पूर्त्यां विराट्त्वाद्वा न दोषः'।

नाम छन्दो भवति । आचार्यग्रहणं पूजार्थम् ॥ २९ ॥

क्रौष्टुकी आचार्यके मतमें इस 'न्यङ्कुसारिणी' की 'स्कन्धोग्रीवी' संज्ञा है ॥२९॥

उरोबृहती यास्कस्य ॥ ३० ॥

इयमेव 'न्यङ्कुसारिणी' यास्कस्याचार्यस्य मतेन 'उरोबृहती' नाम्नी भवति ॥ ३० ॥

यास्काचार्य इसी न्यङ्कुसारिणीको उरोबृहती कहते हैं ॥ ३० ॥

उपरिष्टाद्बृहत्यन्ते ॥ ३१ ॥

यदा जागतः पादोऽन्ते भवति, तदा 'उपरिष्टाद्बृहती' नाम भवति । यथा—

'न तमंहो न दुरितं (१) देवासो अष्ट *मर्त्यम् (२)
सजोषसो यमर्यमा (३) मित्रो नयन्ति वरुणो अतिद्विषः (४)॥'
(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ७ व० १३ मं० १) ॥३१॥

जब जगतीका पाद अन्तमें हो पहिला, दूसरा, तीसरा पाद गायत्रीका हो तो उस बृहतीकी 'उपरिष्टात् बृहती' संज्ञा होती है । (अर्थात् पहिले पादमें आठ, दूसरेमें आठ, तीसरेमें भी आठ और चौथे पादमें यदि बारह अक्षर हों तो) उसे 'उपरिष्टाद्बृहती' कहते हैं ॥ ३१ ॥

पुरस्ताद्बृहती पुरः ॥ ३२ ॥

स एव जागतः पादः पूर्वश्चेद्‌ भवति, शेषाश्च गायत्राः, तदा

भिर्वाचष्निपह्वयामहे ॥ (४) (शु० य० ११ । ४२)

* 'मर्तीयम्' इति पूर्तिः ।

पथ्या बृहती यथा यजुर्वेदे—

कदाचन स्तरीरसि(१) नेन्द्र सश्चसि दाशुषे (२) । उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते (३) दानं देवस्य पृच्यते

न्यङ्कुसारिणी यथा यजुर्वेदे) (शु० य० ३ ३४)

अपो देवीरुप सृज (१) मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः । (२) तासामास्थानादुज्जिहता (३) मोषधयः सुपिप्पलाः (शु० य० ११ । ३८) ।

उपरिष्टाद्बृहती यथा यजुर्वेदे—

ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये (१) तिष्ठा देवो न सविता (२) ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता (३) यदञ्जि-

'पुरस्ताद्बृहती' नाम भवति । यथा—

'महीयस्पतिःशवसो *असाम्या (१)महो नृम्णस्य तूतुजिः(२) ।
भर्ता वज्रस्य धृष्णोः (३) पिता पुत्रमिव प्रियम् (४) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ७ अ० ७ व० ६ मं० ३)

'बृहती जागतस्त्रयश्च गायत्राः' (पि० सू० ३।२६) इत्यनेनैव गतार्थमेतत् । संज्ञाविशेषप्रदर्शनार्थं पुनरुच्यते ॥ ३२ ॥

वही जगतीका पाद यदि पूर्वमें हो और शेष दूसरा, तीसरा और चौथा पाद यदि गायत्रीका हो, (अर्थात् जिस छन्दके पहिले पादमें बारह, दूसरेमें आठ, तीसरे और चौथेमें भी आठही अक्षरहों) उसे 'पुरस्ताद्बृहती' कहते हैं ॥३२॥

'बृहती जागतस्त्रयश्च गायत्राः' इस सूत्रसे बृहतीका सामान्यलक्षण कहा गया है परन्तु विशेष स्वरूप निर्देश के लिये ही पुनः विधान किया गया है ॥

†क्वचिन्नवकाश्चत्वारः ॥ ३३ ॥

क्वचिद्वेदे नवाक्षराश्चत्वारः पादा दृश्यन्ते, सापि बृहत्येव । यथा—

‡चक्षुषोहेते मनसो हेते (१) वाचो हेते ब्रह्मणो हेते (२) ।
यो माघायुरभिदासति (३) तमग्ने मेन्या मेनि कृणु (४) ॥'

(कृ० यजुर्वेदे—तै० ब्रा० का० २ प्र० ४ अ० २ मं० १) ॥३३॥

वेदमें किसी किसी स्थल पर चार पादकी ऐसी 'बृहती' देखी जाती है जिसके प्रत्येक पादमें नव अक्षरके होते हैं ॥ ३३ ॥

वैराजौ गायत्रौ च ॥ ३४ ॥

यत्र वैराजौ पादौ पूर्वौ दशाक्षरौ भवतः, ततो गायत्रौ च, सापि बृहती । यथा—

'कां सोस्मितां हिरण्यप्राकारा (१) मार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां §तर्पयन्तीम् (२)। पद्मेस्थितां पद्मवर्णां (३) तामिहोपह्वये श्रियम् (४) ॥'

(ऋग्वेदे—अ० ४ अ० ५ परि० मं० ४) ॥३४॥

जिस छन्दके प्रथमपादमें दश अक्षर द्वितीय पादमें भी दश अक्षर, तृतीय और चतुर्थपादमें आठ आठ अक्षर होते हैं, उसे भी 'बृहती' कहते हैं ॥३४॥

---

* 'असामिया' इति पूरणात्पादपूर्त्तिः । † क्वचिदिति प्रयोगाल्पत्वं सूच्यते इति षड्गुरुशिष्यः । ‡ प्रथमपादेऽक्षराधिक्याद् भुरिक्रूपा । § द्वितीयेऽक्षराधिक्याद्भुरिक्रूपा ।

त्रिभिर्जागतैर्महाबृहती ॥ ३५ ॥

त्रिभिर्जागतैः पादैश्छन्दो 'महाबृहती' नाम । यथा—

'अजीजनो अमृत मर्त्येष्वाँ*(१) ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः(२)। सदासरो वाजमच्छा स निष्यदत् (३) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ७ अ० ५ व० २२ मं० ४) ॥३५॥

जिसके तीन छन्दमें बारह बारह अक्षरके तीन पाद हों उसे 'महाबृहती' कहते हैं ॥ ३५ ॥

सतोबृहती ताण्डिनः ॥ ३६ ॥

इयमेव महाबृहती ताण्डिन आचार्यस्य मतेन 'सतोबृहती' नाम भवति ॥ ३६ ॥

आचार्य ताण्डीमुनि इसी महाबृहतीको 'सतोबृहती' कहते हैं ॥ ३६ ॥

इति बृहत्यधिकारः ।

---

†पङ्क्तिर्जागतौ गायत्रौ च ॥ ३७ ॥

यदा द्वौ पादौ जागतौ भवतस्ततो गायत्रौ च, तदा 'पङ्क्तिः' नाम छन्दः ॥ ३७ ॥

जिस छन्दमें दो पाद जगतीके और दो पाद गायत्रीके हों (अर्थात् बारह बारह अक्षरोंके दो पाद और आठ आठ अक्षरोंके दो पाद जिस छन्दमें हों) उसे 'पङ्क्ति' कहते हैं ॥ ३७ ॥

पूर्वौ चेदयुजौ सतः पङ्क्तिः ॥ ३८ ॥

सूत्राक्षराण्येवानुष्टुब्छन्दसा विपरिणम्य संक्षेपतो बृहत्या भेदाः प्रदर्श्यन्ते ।

पथ्या पूर्वस्तृतीयश्चेत् (१) (८, ८, १२, ८) द्वितीयोन्यङ्कुसारिणी (२) (८, ८, ८, १२)

उपरिष्टाद्बृहत्यन्ते (३) (८, ८, ८, १२) पुरस्ताद्बृहती पुरः। (४) (१२, ८, ८,)

विराजौ चापि गायत्रौ (५) (१०, १०, ८, ८) चत्वारो नवकाः क्वचित (६) (९, ९, ९)

जागताश्चत्रयो यत्र
स्यान्महाबृहती ततः॥ } (७) (१२, १२, १२)

* 'मर्तियेषुवाँ' इति 'इयुव्' शब्दाभ्यां पादपूर्तिः ।

† पङ्क्तिपदनिर्वचनं निरुक्ते—(७।३।१२)

(पङ्क्तिः पञ्चपदा पञ्चभिः पादैः पङ्क्तिरित्युच्यत इति तदर्थः। (पङ्क्ति विंशति। पा०।५।१५९)

यत्र पूर्वोद्दिष्टौ पादावयुजौ भवतः, प्रथमतृतीयौ पादौ जागता-वित्यर्थः, द्वितीयचतुर्थौ च गायत्रौ तच्छन्दः 'सतः पङ्क्तिः' नाम भवति । यथा—

'अग्निना तुर्वशं यदुं परावत (१) उग्रादेवं हवामहे (२) ।
अग्निर्नयन्नववास्त्वं बृहद्रथं (३) तुर्वीतिं दस्यवे सहः (४) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० १ म० ३ व० ११ म० ३) ॥३८॥

जिस छन्दके पहिले और तीसरे पादमें बारह बारह अक्षर, दूसरे और चौथे पादमें आठ आठ अक्षर हों उसे 'सतः पङ्क्ति' कहते हैं ॥ ३८ ॥

विपरीतौ च *॥ ३९ ॥

यदा तावेव पादौ विपरीतौ भवतः, तदापि सतः पङ्क्तिरेव । अयमर्थः—प्रथमतृतीयौ पादौ गायत्रौ, द्वितीयचतुर्थौ च जागतौ, तदापि सतःपङ्क्तिरेव भवति । यथा—

'य ऋष्वः श्रावयत्सखा(१)विश्वेत्स वेद जनिमा पुरुष्टुतः(२) ।
तं विश्वे मानुषा युगे (३) न्द्रं हवन्ते तविषं यतस्रुचः (४) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ६ अ० ४ व० ३ मं० २) ॥ ३९ ॥

पूर्व सूत्रमें जो कहा गया है । वही यदि विपरीत हो जाय (अर्थात् जिस

इत्यादि सूत्रे पञ्च पदानिपरिमाणमस्येति पङ्क्तिश्छन्द इति काशिका । तथा च तदस्य परिमाण-मित्यर्थे पञ्चन् शब्दात्तिप्रत्ययः । प्रपञ्चन् शब्दस्य टिलोपः "चोकुः(पा० ८।२।३० इति कुत्वम् ।

एवञ्च ऋक्प्रातिशाख्ये (१६ । ५१) 'पङ्क्तिरष्टाक्षराः पञ्च'

कात्यायनोऽपि—'पञ्चमं पङ्क्तिः पञ्चपदा ।'

उव्वटाचार्य्योऽपि—"सा पङ्क्तिरिष्यते यस्या अष्टाक्षराः पञ्च पादा भवन्ति '

नन्विदं लक्षणमनुपपन्नम् । अष्टाक्षरैः पञ्चभिपादैः पङ्क्तिरिति 'पथ्यापङ्क्ता'वेव समन्वेति 'पथ्या पञ्चभिगायत्रैः' (पि० सू० ३ । ४८) इत्युक्तत्वात् , 'पङ्क्तिः पञ्चपदा "इति यास्कवामन मतेऽपि (पदपङ्क्तिः पञ्च'।(पि० सू० ३।४६) इत्युक्तेन पदपङ्क्तौ च समन्वयेऽपि प्रस्तार विस्तार सस्वारादि पङ्क्तिषु व्यभिचार एव ।

अत्रोच्यते-नेदं लक्षणं कित्वन्वर्थमात्रकथनं तेन दोषाभावात् । वस्तुतस्तु । पङ्क्तिर्जागतौ गायत्रौ च" (पि० सू० ३। ३७) इति पङ्क्तेः सामान्यलक्षणानुरोधेन नेदमनुपपन्नमेवेति दिक् ।

* लाघवाय 'भुजौ चे' ति वक्तव्य गुरुभूतो न्यासो 'विपरीता' इति सद्दाष्यास्तीति सूचनार्थः । तथाचोक्तं शौनकेन—(विपरीता विपर्यये' (प्रा० शा० १६ । ५४)

छन्दके पहिले और तीसरे पादमें आठ आठ अक्षरहों दूसरे और चौथे पादमें बारह बारह अक्षर हों) उसे भी 'सतः पङ्क्ति' कहते हैं ॥ ३९ ॥

***प्रस्तारपङ्क्तिः पुरतः ॥ ४० ॥**

यदा जागतौ पादौ पूर्वौ भवतः, गायत्रौ च परतः, तदा 'प्रस्तार-ङ्क्तिः' नाम । यथा—

'भद्रमिन्द्रदा कृणवत्सरस्वत्य(१) †कवारी चेतति वाजिनीवती(२) गृणाना जमदग्निवत् (३) स्तुवाना च वसिष्ठवत् (४) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ५ अ० ६ व० २० मं० ३)

'पङ्क्तिर्जागतौ गायत्रौ च' (पि० सू० ३।३७) इत्यनेन गतार्थमिदं संज्ञाविशेषज्ञापनार्थं पुनरुच्यते ॥ ४० ॥

जिस छन्दमें आदिके दो पाद बारह बारह अक्षर के हों और शेष दो पाद आठ आठ अक्षरके हों ऐसे चतुष्पाद् छन्दको 'प्रस्तारपङ्क्ति' कहते हैं ।

'पङ्क्तिर्जागतौ गायत्रौ च' इस सूत्रसे गतार्थ होने पर भी संज्ञा विशेषके ज्ञापनके लिये 'प्रस्तारपङ्क्तिः पुरतः' इत्यादि सूत्रोंका आरम्भ समझना चाहिये । पूर्वोक्त सूत्रसे पङ्क्तिका सामान्यलक्षण कहा गया है और आगेके सूत्रोंसे पङ्क्ति का विशेष लक्षण कहा जायगा ॥ ४० ॥

आस्तारपङ्क्तिः परतः ॥ ४१ ॥

यदा जागतौ पादौ परौ भवतः, गायत्रौ च पूर्वौ, तदा आस्तार-पङ्क्तिः' नाम । यथा—

‡ 'भद्रं नो अपि वातय (१) मनो दक्षमुत क्रतुम् (२) ।

---

* क्वचित् पुस्तके प्रथममास्तारपङ्क्तिरूपं लभ्यते । तदयुक्तम् , 'प्रस्तारपङ्क्तिःपुरतः पश्चादास्तारपङ्क्तिका" इत्यग्निपुराणविरोधात् सर्वानुक्रमविरोधाच्च ।

† पादेऽस्मिन्नेकादशाक्षरत्वात् संयोगादेरभाव्यूहस्थाप्यवकाशविरहात्कथं प्रस्तारपङ्क्ति-त्वमिति ध्येयम् । उदाहरणान्तरं मृग्यमेवेति ।

‡ कात्यायनमते त्वियं दशाक्षरपादद्वयवती द्विपाद् विराट् । शौनकेन तु पक्षद्वयमप्युक्तम्—

'विराजो द्विपदाः केचित्सर्वा आहुश्चतुष्पदाः ।
कृत्वा पञ्चाक्षरान् पादांस्तथाचाक्षरपङ्क्तयः ॥" इति (म० प्रा० शा० १७ । ५०)

सांख्यायनोऽप्याह—

'उत्तरस्या दशाक्षरौः, तामक्षरपङ्क्तिरित्यप्याचक्षते । (श्रौ० सू० ७ । २७)

अधा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे (३) रणन् गावो
न यवसे विवक्षसे (४) ।'

(ऋग्वेदे-अ० ७ म० ७ व० ११ मं० १) ॥ ४१ ॥

जिस छन्दमें अन्तके दो पाद बारह बारह अक्षरके हों और आदिके दो पाद आठ आठ अक्षरके हों उसे 'आस्तारपङ्क्ति' कहते हैं ॥ ४१ ॥

विष्टारपाङ्क्तिरन्तः ॥ ४२ ॥

यदा जागतौ पादौ मध्ये भवतः, आद्यन्तयोश्च गायत्रौ, तदा 'विष्टारपङ्क्तिः' नाम । यथा—

'अग्ने तव श्रवो वयो (१) महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो (२)।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं१ (३) दधासि दाशुषे कवे (४) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ८ म० ७ व० २८ मं० १) ॥४२॥

जिस छन्दमें बीचके दो पाद जगतीके हों और आदिमें गायत्रीका, अन्तमें भी गायत्रीका पाद हो (अर्थात् जिस छन्दके पहिले पादमें आठ दूसरे और तीसरे पादमें बारह और चौथेमें फिर आठ अक्षर हों) उसे 'विष्टारपङ्क्ति' कहते हैं ॥४२॥

संस्तारपाङ्क्तिर्बहिः ॥ ४३ ॥

यदा तावेव जागतौ पादौ बहिर्भवतः, मध्ये च गायत्रौ, तदा 'संस्तारपङ्क्तिः' नाम छन्दः । यथा—

'पितुभृतो न तन्तुमित्सुदानवः (१) प्रति दध्मो यजामसि (२) ।
उषा अप स्वसुस्तमः (३) संवर्तयति वर्तनिं सुजातता (४) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ८ म० ८ व० २० मं० ३,४) ॥ ४३ ॥

जस छन्दमें आदि तथा अन्तके पाद जगतीके हों और बीचके दो पाद गायत्रीके हों (अर्थात् जिस छन्दके पहिले और चौथे पादमें बारह बारह अक्षरहों तथा दूसरे और तीसरे पादमें आठ आठ अक्षरहों) उसे 'संस्तारपङ्क्ति' कहते हैं॥४३॥

अक्षरपाङ्क्तिः पञ्चकाश्च*त्वारः ॥ ४४ ॥

पञ्चाक्षरैश्चतुर्भिः पादैः 'अक्षरपङ्क्तिः' नाम छन्दः । ननु चत्वारिंशदक्षरा पङ्क्तिश्छन्दः, तत्कथं 'पञ्चकाश्चत्वारः' इत्युच्यते ? तत्रो-

* भुरिक्रूपत्वादेकाक्षराधिक्यम् । कात्यायनेन तु (पञ्चकाश्चत्वारः षट्कश्चैकः' सर्वा० (४।२) इत्येव सूत्रितम् ।

त्तरम्—'द्वावप्यल्पशः' (पि० सू० ३।४५) इत्यस्मात् सिंहावलोकितन्यायेनाल्पग्रहणमनुवर्तते, तेन पङ्क्तेरल्पत्वं विशेषात्प्रतिपादितं भवति । यथा—

'पश्वा न तायुं (१) गुहा चतन्तं (२)
नमो युजानं (३) नमो वहन्तम् (४) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० ५ व० ६ मं० १) ॥४३॥

जिस छन्दमें चारो पाद पांच पांच अक्षरके हों उसे 'अक्षरपङ्क्ति' नामका छन्द कहते हैं ।

प्रश्न—चालीस अक्षरोंका पङ्क्तिछन्द होता है । यहां पांच पांच अक्षर के चार पाद होंनेसे बीस ही अक्षर होते हैं कैसे ?

उत्तर—"द्वावप्यल्पशः" इस सूत्रसे अल्पशः पदको सिंहावलोकन न्यायसे लाना चाहिये ।

इससे इस छन्दका कदाचित् ही प्रयोग होता है यह तात्पर्य निकला ॥४४॥

द्वावप्यल्पशः ॥ ४५ ॥

पञ्चग्रहणमनुवर्तते । पञ्चाक्षराभ्यां पादाभ्यामल्पशः पङ्क्तिर्नाम छन्दो भवति, क्वचिदेव वेदे न सर्वत्र । यथा—

'सदो विश्वायुः (१) शर्म सप्रथाः ।'

(तै० आ०। ४।१) ॥ ४५ ॥

पूर्व सूत्रसे 'पञ्च' पदकी अनुवृत्ति आती है । जिस छन्दमें दो ही पाद हों और प्रत्येक पादमें पांच पांच अक्षर हों उसे 'अल्पशः पङ्क्ति' कहते हैं ॥ ४५ ॥

पदपङ्क्तिः पञ्च ॥ ४६ ॥

'पञ्चकाः' इत्यनुवर्तते । यदा पञ्चाक्षराः पञ्च पादा भवन्ति, तदा 'पदपङ्क्तिः' नाम छन्दः । यथा—

'घृत *न पूतं (१) तनूररेपाः (२) शुचि हिरण्यम् (३) ।

* वस्तुतोऽत्रक्रमो न विवक्षितः । यथा कथञ्चित् पादत्रयं पञ्चाक्षरम्, एकश्चतुरक्षरः, एकश्च षडक्षरः इत्यर्थः । अत एव (द्वौ वा पादौ चतुष्कश्च षट्कश्चैकस्त्रिपञ्चकाः' (मु० प्रा० शा० १६ । १५) इति शौनकीय लक्षणम् । (द्वौ पादौ एकचतुष्कः, एकः षट्काः, त्रयश्च पञ्चाक्षरा भवन्तीति क्रमनैरपक्ष्येणैव व्याचख्यौ तद्भाष्यकारः । तत्राद्यचतुष्कान्त्यषट्कोदाहरणम्—अग्ना ऋग्ने०-(म० सं० २।५।१०।२) इत्येव । तृतीयचतुष्कान्त्यषट्कोदाहरणम्—

तस्ते रुक्मो न (४) रोचत स्वधावः (५) ॥'

(ऋग्वेदे-म० ३ अ० ५ व० १० मं० ६) ॥४६॥

इस सूत्रमें भी 'पञ्चकाः' पदकी अनुवृत्ति आती है। जिस छन्दमें पांच पाद हों और प्रत्येक पादमें पांच पांच अक्षरहों उसे 'पदपङ्क्तिछन्द कहते हैं ॥ ४६ ॥

चतुष्कषट्कौ त्रयश्च ॥ ४७ ॥

चकारः 'पञ्चकाः' इत्यनुकर्षणार्थः। यदा प्रथमश्चतुरक्षरः पादः, द्वितीयः षडक्षरः, ततस्त्रयः पञ्चाक्षरास्तदा पञ्चपदा पदपङ्क्तिरेव। यथा—

'अधा ह्यग्ने (१) क्रतोर्भद्रस्य (२) दक्षस्य साधोः (३)।

एभिर्नो अर्कैः (१) भवानो अर्वा (२) स्वर्णज्योतिः (३) अग्ने विश्वेभिः (४) सुमना अनीकैः (५)।' (ऋम० सं० ३।५।१०।१) चतुर्थं चतुष्क पञ्चमषट्कोदाहरणम्—

अग्ने तमद्या-(१) श्वं नस्तोमैः (२) क्रतुं न भद्रं (३) हृदिस्पृशम् (४) मध्यमा त ओहैः (५) ॥ (म० सं० ३।५।१०।१) अन्यान्यप्युदाहरणानि शाखान्तरे मृग्याणीति दिक्।

† यद्याप्यस्याः प्रथमेऽर्धे पादद्वयम्, उत्तरार्धे च त्रयमिति प्रायो दृश्यते तथापि क्वचिद्वैपरीत्यस्यापि सत्त्वान्न तथा नियमः। यथा—

"नकि देवा मिनीमसि (१) नकिरा योपयामसि (२) मन्त्रश्रुत्यं चरामसि (३) प्रक्षेभिरपि कक्षेभि (४) रत्राभि संरभामहे (५) ॥) (म० सं० ८।७ २२।७)

(२) 'महा पङ्क्तिः षडष्टकाः' (प्रा० शा० १६।७१)

इति शौनकः। कदाचिदत्रापि मूले (महतीतिपाठ) सम्भाव्यते।

अथ पङ्क्तिछन्दसः संक्षेपतो भेदाः प्रदर्श्यन्ते।

भवेतां जागतौ पादौ, गायत्रौ यत्र चाष्टकौ। पङ्क्तिमेतां विजानीया, न्निखिलश्रुतिगोचराम् ॥१॥
प्रथमे जागतो यस्य, तृतीयेऽपि तथा भवेत्। गायत्रौ चान्यपादेषु, सतः पङ्क्तिरितिस्मृता ॥ २ ॥
पूर्वोक्तलक्षणे विद्वन्, विपरीतौ यदि श्रुतौ। पिङ्गलस्य सतः पङ्क्ति, र्विपरीता मतान्तरे ॥ ३ ॥
पुरो भागे जागतौ चेत्, प्रस्तारपङ्क्तिका भवेत्। गायत्रौ चाग्रभागेचेत्, आस्तारपङ्क्तिका तदा॥४॥
अन्तो विष्टारपाङ्क्तः स्यात्, संस्तार पंक्तिका बहिः। चत्वारः पञ्चका यत्र, साक्षरपङ्क्तिका स्मृता
पादौ यत्र भवेतां द्वौ, पञ्चाक्षरसमन्वितौ। अल्पश इति सा पङ्क्तिः, क्वचिदेव प्रयुज्यते ॥६॥
पञ्चस्वपि च पादेषु, पञ्चपञ्चाक्षराणि चेत्। चतुर्षुचापि वेदेषु, पदपङ्क्तिर्हिगीयते ॥ ७ ॥

पादौ यदीयौ प्रथमद्वितीयौ चतुष्कषट्काक्षरवृन्दभाजौ।
त्रयश्च पादा यदि पञ्चवर्णा पदादिपङ्क्तिर्मुनिभिः प्रविन्ना ॥ ८ ॥

गायत्रैः पञ्चभिः पथ्या विद्वद्गोष्ठो प्रतिष्ठिता। षड्भिश्च जगतीं प्रोक्ता महापङ्क्तिर्मतान्तरे ॥९॥

रथीर्ऋतस्य (४) बृहतो बभूथ (५) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ३ अ० ५ व० १० मं० २) ॥४७॥

इस सूत्रमें 'पञ्चकाः' इस पदका अनुकर्षण करनेके लिये ही चकार रखा गया है। जिस छन्दके पहिले पादमें चार अक्षर और दूसरेमें छः अक्षरहों। तथा पांच पांच अक्षरके शेष तीन पादहों उसे भी 'पदपङ्क्ति' कहते हैं ॥४७॥

पथ्या पञ्चभिर्गायत्रैः ॥ ४८ ॥

पञ्चभिरष्टाक्षरैः पादैः 'पथ्या' नाम पङ्क्तिर्भवति। अस्योदाहरणम्—

'यो अर्यो मर्तभोजनं (१) परादृदाति दाशुषे (२)।
इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु (३) विभजा भूरि ते वसु (४)
भक्षीय तव राधसः (५) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० ६ व० २ मं० १) ॥४८॥

जिस छन्दमें पांच गायत्रीके पादहों (अर्थात् आठ आठ अक्षरोंके पांच पाद हों) उसे 'पथ्यापङ्क्ति' कहते हैं ॥ ४८ ॥

जगती षड्भिः ॥ ४९ ॥

'गायत्रैः' इत्यनुवर्तते। गायत्रैः षड्भिः पादैः 'जगती' नाम छन्दो भवति। यथा—

'महि वो महतामवो (१) वरुण मित्र दाशुषे (२)।
यमादित्या अभि द्रुहो (३) रक्षथा नेमघं नश (४)
दनेहसो व ऊतयः (५) सुऊतयो व ऊतयः (६) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ६ अ० ४ व० ७ मं० १) ॥ ४९ ॥

इति पङ्क्त्यधिकारः।

---

(१) (क) सतः पङ्क्तिः (१२, ८, १२, ८)	(७) अक्षरपङ्क्तिः (५, ५, ५, ५)
(२) (ख) सतः पङ्क्तिः (८, १२, ८, १२)	(८) अल्पशः पंक्तिः (५, ५,)
(३) आस्तारपङ्क्तिः (८, ८, १२ १२)	(९) (क) पदपङ्क्तिः (५, ५, ५, ५,)
(४) प्रस्तारपङ्क्तिः (१२, १२, ८, ८,)	(१०)(ख) पदपङ्क्तिः (४,६,५,५,५,)
(५) विस्तारपङ्क्तिः (८, १२, १२, ८)	(११) पथ्यापङ्क्तिः (८,८,८,८,८)
(६) संस्तारपङ्क्तिः। (१२, ८, ८, १२)	(१२) जगती पङ्क्तिः (८,८,८,८,८,८,)

इति पङ्क्तिप्रकरणम्।

'गायत्रैः' इस पदका अनुवर्तन होता है। जिसः छन्दमें छः गायत्रीके पाद हों (अर्थात् आठ आठ अक्षरोंके छः पादहों) उसे जगती कहते हैं ॥ ४९ ॥

अथ *त्रिष्टुब्†जगत्याधिकारः।

एकेन त्रिष्टुब्ज्योतिष्मती ॥ ५० ॥

त्रिष्टुभः प्रस्तुतत्वात्प्रत्यासत्तेश्च तस्या एव सम्बन्धः। एकेन त्रैष्टुभेन पादेनाधिकाराच्चतुर्भिर्गायत्रैः पञ्चपात् 'त्रिष्टुब्ज्योतिष्मती' नाम छन्दो भवति। त्रैष्टुभेन सह पञ्चभिर्गायत्रैः' (पि० सू० ३।४८) इत्युक्ते चत्वार एव गायत्राः पादा लभ्यन्ते। यथा 'उपाध्यानेन सह पञ्च शिष्या आगता' इत्युक्ते उपाध्यायपञ्चमाः प्रतीयन्ते ॥ ५० ॥

त्रिष्टुभका ही प्रकरण है और त्रिष्टुभ शब्द निकटमें भी हैं। इसलिये एक-शब्दका त्रिष्टुभशब्दके साथ ही सम्बन्ध करना युक्तियुक्त है। गायत्रीका अधिकार आरहा है। 'पञ्चभिः गायत्रैः' (पि० ३।४८) सूत्रकी जो आवृत्ति आरही है उसमें यदि (एकेन त्रिष्टुभे पादेन) इन दो पदोंको भी मिला दिया जाय तो पूरा वाक्य होगा (एकेन त्रिष्टुभेन पादेन पञ्चभिर्गायत्रै त्रिष्टुब् भवति)। (अर्थात् एक त्रैष्टुभ पादके साथ पांच गायत्रीके पाद यदि हों तो

---

* त्रिष्टुष्पदनिर्वचनमित्यर्थं निरुक्ते—(नि० ७-७२) 'त्रिष्टुप् स्तोमत्युत्तरपदा' स्तोमत्युत्तरपदं यस्याः सेयं त्रिष्टुप्। अस्त्यत्रस्तोभत्युत्तरपदे।

तत्र त्रिशब्दोऽस्ति तन्निर्वचनंः पुनः पृच्छति (कातु त्रिता स्यात् ?) अथ पूर्वपदे येयं त्रिता त्रित्वंश्रूयते 'त्रि' इति एतत्किमर्थकमिति ? उत्तरमाह—

'तीर्णतमं छन्दः' स्तुततममिदं छन्दः गायत्र्यादिभ्यो बहुत्वात् सेयं तीर्णतमा च स्तोभतिचेति त्रिष्टुप्।

यद्वा "त्रिवृद्वज्रस्तस्य स्तोमतीति वा" वज्रमायुधं तत्र पुनस्त्रिसन्धि शरः, शृङ्गं, शल्यमिति वा तस्य स्तोमति स्तुतिं करोति ऋषिरनयन्ति त्रिष्टुप्।

यद्वा 'यत्रिरस्तोमत्–तत्त्रिष्टुभस्त्रिष्टुभत्वमिति विज्ञायते' यत् अनया त्रिवारमस्तोमत् स्तुतवान् ऋषिः तेन त्रिष्टुप्। † एवं जगतीनिर्वचनं निरूक्ते (७।१३)

(जगती गततमं छन्दः) गततममन्त्यम्। अतः परमतिच्छन्दांसीत्यर्थः। 'जलचरगतिर्वा' अथवा जलचरवत् तस्या गतिः। जलोर्मिप्रकारो हि तस्याः प्रस्तारः। तथाहि। 'लचर' शब्दस्य पृषोदरादित्वाल्लोपे ङीष् (पा० ४–१–४५)

अथवा 'जगल्यमानोऽसृजदिति च ब्राह्मणम्' 'ग्लै हर्षक्षये' क्षीणहर्ष इव क्लिष्टां प्रजापतिरसृजदाश्यत्। नित्यत्वादेव छन्दसां सष्टुमसामर्थ्याद्धि हर्षक्षयः॥

उसे त्रिष्टुभ छन्द कहते हैं) । त्रिष्टुभके साथ पांच गायत्रीके पाद हो ऐसा कहने पर एक पाद त्रिष्टुभका और चार पाद गायत्रीके ऐसा प्रतीत होता है । जैसे उपाध्यायके साथ पांच शिष्य आये हैं इस वाक्यसे चार शिष्य और पांचवा उपाध्याय ऐसा प्रतीत होता है उसी प्रकार यहां पर भी समझना । यह वृत्तिकार का अभिप्राय हैं इसकी विशेष आलोचना *टिप्पणीमें देखिए ।

वृत्तिकारके मतसे सूत्रार्थ यह हुआ कि "जिस छन्दमें त्रिष्टुभका एक पाद हो (अर्थात् ग्यारह अक्षरों का एक पादहो) शेष पाद गायत्रीके हों (अर्थात् उनमें आठ आठ अक्षर यदि हों) तो उसे त्रिष्टुभ छन्द कहते हैं ॥ ५० ॥

तथा जगती ॥ ५१ ॥

एकेना जागतेन पादेन चतुर्भिर्गायत्रैः पादैः पञ्चपाज्जगती 'ज्योतिष्मती'† नाम छन्दो भवति ॥ ५१ ॥

जिस छन्दमें बारह अक्षरों का एक पाद और चार पाद आठ आठ अक्षरोंके हों इस प्रकारका पञ्चपाद छन्दको ज्योतिष्मती जगती कहते हैं ॥ ५१ ॥

पुरस्ताज्ज्योतिः प्रथमेन ॥ ५२ ॥

प्रथमेन त्रैष्टुभेन पादेन, शेषैश्च गायत्रैः पादैः 'पुरस्ताज्ज्योतिः' नाम त्रिष्टुब् भवति । यथा—

'कृधी नो अह्रयो देव सवितः (१) स च स्तुषे मघोनाम् ।
सहो न इन्द्रा वह्निभि (२) न्येषां चर्षणीनां (४) चक्रं रश्मिं न योयुवे‡ (५) ॥' (ऋग्वेद-अ० ८ अ० ४ व० २७ मं० ४)

---

* इदन्त्वत्रासङ्गतमेव 'उपाध्यायेन सह पञ्चशिष्या आगता' इत्युक्ते 'उपाध्यायकर्तृकागमन समानकालिका गमनवन्तः पञ्चसंख्याः शिष्याः' इत्येव शाब्दबोधः समभिव्याहृत पदार्थसमकालिकत्वरूपस्यैव सहार्थत्वात् । किञ्च पुत्रेण सह स्थूल इव शिष्यवृत्ति पञ्चसंख्यकत्व समानकालिकपञ्चसंख्यकत्ववानुपाध्याय इति बोधस्य सर्वानुभवविरूद्धत्वात्। पञ्चाभिः पुत्रैः सहागतः पिता इत्यनेनापि तथात्वापत्तेश्चा । विस्तरस्तु लघुमञ्जूषायां व्युत्पत्तिवादेऽप्यनुसन्धेय इति दिक् । वस्तुतस्तु एकेनेति 'पथ्याः पञ्चभिर्गायत्रैः' (३।४८) इत्यते । गायत्रपादस्य प्रस्तुतत्वात् प्रत्यासत्तेश्च तस्यैव संम्बन्धः स्यात् । गायत्रेनैकेन पादेनाधिकारात् त्रिभिस्त्रैष्टुभैः पादैश्चतुपात् त्रिष्टुप् 'ज्योतिष्मती' नाम इति व्याख्यातमेवमुक्तम् 'ततो ज्योतिर्यतोऽष्टकः । (ऋ० प्रा० १६।६६) इति शौनकीयमप्येवं सङ्गच्छते प्रयोगबाहुल्यमपि दृश्यते ॥

† एकेन गायत्रेण पादेन चतुर्भिश्च जागतैश्चतुपाद्' 'ज्योतिष्मती' इति व्याख्यानान्तरम्

‡ द्वितीयचतुर्थपादयोर्व्यूहेनाक्षरपूर्तिः ।

पूर्वेणैव गतार्थत्वाद्विशेषसंज्ञापनार्थमिदम् । 'तथा जगती' इत्यनुवर्तनीयम् । तेनाद्येन जागतेन पादेन चतुर्भिश्च गायत्रैः 'पुरस्ताज्ज्योतिः' नाम जगती भवति । यथा—

'नमोवाके प्रस्थिते अध्वरे नरा (१) विवक्षणस्य पीतये (२) ।

आयातमश्विना गत (३) मवस्युर्वामहं हुवे (४) धत्तं रत्नानि दाशुषे (५) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ६ अ० ३ व० १७ मं० ५) ॥ ५२ ॥

जिस छन्दके पहिले पादमें ग्यारह अक्षर और शेष चारों पादमें आठ आठ अक्षरहों तो उसे पुरस्ताज्ज्योति नामक त्रिष्टुब् कहते हैं । इसी प्रकार जिस छन्द के पहिले पादमें बारह अक्षरहों और शेष चारों पादमें आठ आठ अक्षरहों ऐसे पञ्चपाद छन्दको 'पुरस्ताज्ज्योति' जगती कहते हैं ।

यहां एक बात ध्यान देने योग्य है उपरिष्टाद्ज् (३।५४) सूत्र तक 'तथा जगती' (पि० सू० ३।५१) सूत्रसे जगती शब्दका अनुवर्तन होता है और एकेन-(३।५०) सूत्रसे त्रिष्टुप् का भी, इसलिये त्रिष्टुप् और जगती दोंनो छन्दोंका साथही साथ लक्षण किया गया है ॥ ५२ ॥

मध्येज्योतिर्मध्यमेन ॥ ५३ ॥

यदा मध्यमस्त्रैष्टुभः पादो भवति, उभयतश्च द्वौ द्वौ गायत्रौ, तदा 'मध्येज्योतिः' नाम त्रिष्टुब् भवति । मध्येज्योतिरित्यलुक्समासः । यथा—

'बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः (१) शुक्रेण देव शोचिषा (२) ।

भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य (३) रेवन्नः शुक्र दीदिहि (४)

द्युमत्पावक दीदिहि (५) ॥' (ऋग्वेदे-अ० ४ अ० ८ व० २ मं० २)

'तथा जगती' इत्युवर्तनीयम् । तेन मध्यमेन जागतेन एकेन जागतेन मध्यमेन तृतीयेनोभयतश्च द्वौ द्वौ गायत्रौ, तदा 'मध्येज्योतिः' नाम जगती भवति । यथा—

'यन्मे नोक्तं तद्रवतां (१) शकेयं यदनुब्रुवे (२) ।

निशामतं निशामहै मयि व्रतं (३) सह व्रतेषु भूयासं (४)

ब्रह्मणा सङ्गमेमहि (५) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ८ व० ६ परि० मं० ४) ॥ ५३ ॥

जिस छन्दके पहिले दो पाद और अन्तके दो पाद आठ आठ अक्षरों के हों और शेष बीचका तीसरा पाद ग्यारह अक्षरोंका हो तो उसे 'मध्येज्योति' नामक त्रिष्टुप् कहते हैं ।

इसी प्रकार जिस छन्दके पहिले दो पाद और अन्तके दो पाद आठ आठ अक्षरोंके हों तथा बीचका तीसरा पाद यदि बारह अक्षरोंका हो तो उसे "मध्ये ज्योति" नामकी जगती कहते हैं ॥ ५३ ॥

उपरिष्टाज्ज्योतिरन्त्येन ॥ ५४ ॥

यदा चत्वारो गायत्राः पादा भवन्ति, अन्ते च त्रैष्टुभः, तदा 'उपरिष्टाज्ज्योतिः' नाम त्रिष्टुब् भवति । यथा—

'संवेशिनीं संयमिनीं (१) ग्रहनक्षत्रमालिनीम् (२) ।
प्रपन्नोऽहं शिवां रात्रीं (३) भद्रे पारमशीमहि (४)
भद्रे पारमशीमह्यों* नमः (५) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ७ व० १४ मं०४)

'तथा जगती' इत्यनुवर्तनीयम् । तेनान्तेन जागतेन पादेन शेषैश्च गायत्रैश्चतुर्भिः 'उपरिष्टाज्ज्योतिः' नाम जगती भवति । यथा—

'लोकं पृण छिद्रं पृण (१) । अथो सीद शिवात्वम्† (२) ।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिः (३) । अस्मिन् योनावसीषदन्‡ (४) ।
तया देवतयाङ्गिरस्वद्‌ध्रुवा सीद (५) ॥'

(यजुर्वेदे—तै० ब्रा० अ० ३ प्र० ११ अ० ६ मं० ३) ॥ ५४ ॥

इति त्रिष्टुब्जगत्यधिकारः ।

जिस छन्दमें आदिके चार पाद आठ आठ अक्षरोंके हो और अन्तका

---

* हि ओं इति व्यूहेनाक्षरपूर्तिः । † तु अ इति व्यूहेनाक्षरपूर्तिः ।

‡ अक्षराधिक्याद्‌भुरिक् । एवमेवोत्तरत्रसमाधेयम् ।

अथ त्रिष्टुब्जगत्योः संक्षेपतो भेदाः प्रदर्श्यन्ते । पञ्चपादः ।

(१) पुरस्ताज्ज्योतिः त्रिष्टुप् (११,८,८,८,) (१) पुरस्ताज्ज्योतिःजगती (११,८,८,८,८)
(२) मध्येज्योतिः त्रिष्टुप् (८,८,११,८,८) (२) मध्ये ज्योतिः जगती (८,८,१२,८,८)
(३) उपरिष्टाज्ज्योतिः त्रिष्टुप् (८,८,८,८,११) (३) उपरिष्टाज्ज्योतिः जगती (८,८,८,८,१२)

इति त्रिष्टुब्जगत्यधिकारः ।

पांचवा पाद यदि ग्यारह अक्षरोंका हो तो उसे 'उपरिष्टाज्ज्योति' नामक त्रिष्टुप् कहते हैं ॥

इसी प्रकार जिस छन्दमें आदिके चार पाद आठ आठ अक्षर हों और अन्त का पांचवा पाद यदि बारह अक्षरोंका हो तो उसे 'उपरिष्टाज्ज्योति' नामकी जगती कहते हैं ।

पूर्वकी तरह एकेन-(३।५०) तथा जगती (३।५१) सूत्रोंसे सिद्ध होने परभी विशेष ज्ञा विधान करनेके लिये ही और तीन सूत्र कहे गये हैं ॥ ५४ ॥

अथ गायत्र्यादीनां विशेषसंज्ञाधिकारः ।

एकस्मिन्पञ्चके§ छन्दः शङ्कुमती ॥ ५५ ॥

यदैकः पञ्चाक्षरः पादो भवति, त्रयश्च षडक्षराः,* तदा 'शङ्कुमती'

---

§ 'यदैकः पञ्चाक्षरः पादो भवति त्रयश्च द्वादशाक्षरास्तदा 'शङ्कुमती जगती' भवति इति क० मु० पु० टिप्पण्यां लिखित पुस्तके च ।

* इदं चिन्त्यमेव एकस्य पादस्य पञ्चाक्षरत्वमात्रं ह्यत्र विवक्षितम् तथा च लाघवमपि—

(१) युक्तेन मनसा वयं (१) देवस्य सवितुः सवे (२) । स्वर्ग्याय शक्त्या (३) ॥

(२) उष्णिहो यथा—

सुवीर्यं स्वश्व्यं (१) सुगव्यमिन्द्र दद्धिनः (२) ।

होतेव पूर्वचित्तये प्राध्वरे ॥ (ऋ० सं० ६।१।६।८)

(३) अनुष्टुभो यथा—

पितु नु स्तोषं (१) महो धर्माणं तविषीम् (२)

यस्य त्रितो व्योजसा (३) वृत्रं विपर्वमर्दयत् (ऋ० अ० २ अ० ५ व० ६ मं० १)

(४) बृहत्या यथा—

वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणा (१) क्षेत्रं साम्यानाम् (२)

द्रप्सा भेत्ता पुरां शश्वतीना (३) भिन्द्रो मुनीनां सखा (४)

(ऋ० सं० ३।१।२४।४)

(५) पङ्क्त्या यथा—

अग्ने तव त्यदुक्थ्यं (१) देवेष्वस्त्याप्यम् (२) ।

स नः सत्तो मनुष्यदा (३) देवान्यक्षि विदुष्टरो (४)

नाम गायत्री । यथा—

'तिस्रो देवीर्बर्हि(१)रेदँ सदन्त्विडा (२) सरस्वती भारती(३)। मही गृणाना (४) ॥'

(य० तैत्तिरीयसंहिता—कां० ४ प्र० १ अ० ८ मं० ६)

छन्दोग्रहणे प्रकृते पुनश्छन्दोग्रहणं छन्दोमात्र प्रतिपत्त्यर्थम् । तेन सर्वेषु छन्दःसु पञ्चाक्षरैकपादलक्षिता शङ्कुमती भवति । इतरथा ह्यनन्तरमेव सम्प्रत्ययः स्यात् ॥ ५५ ॥

जिस छन्दमें एक पाद पांच अक्षरोंका हो और शेष तीन पाद छः छः अक्षरों के हों तो उसे शङ्कुमती गायत्री कहते हैं। यहां पर (छन्दः) (पि० सू० २।१) सूत्रसे छन्दः शब्दका अधिकार सिद्ध ही था पुनः इस सूत्रमें छन्द शब्दका ग्रहण सामान्यतः समस्त छन्दोंका बोध करानेके लिये ही किया गया है । इसलिये यह नियम सभी छन्दोंके लिये समझना चाहिये । अत एव गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप् आदि सातों प्रकारके वैदिक छन्दोंके लक्षण कहे हैं । जितने अक्षरोंके जितने पाद कहे गये हैं यदि उनमें किसी एक पादमें पांच अक्षर पाये जायँ और शेष पादोंमें जितने अक्षर कहे गये हैं उतने ही अक्षर होंतो उन छन्दोंको भी शङ्कुमती समझना। जैसे— आर्षी अनुष्टुप् छन्दमें आठ आठ अक्षरके चार पाद और कुल बत्तीस अक्षर कहे गये हैं अब उनके यदि किसी एक पादमें पांच अक्षरहों और शेष तीनों पादमें आठ आठ अक्षरहों तो उसे शङ्कुमती अनुष्टुप् समझना। इसी प्रकार अन्यान्य छन्दोंमें भी कल्पना कर लेनी चाहिये ॥ ५५ ॥

षट्के ककुम्म(द्म)ती ॥५६॥

एकस्मिन् षडक्षरे पादे, अन्येषु यथालक्षणमुपात्तेषु छन्दोमात्रं 'ककुम्म(द्म)ती' नाम भवति ॥५६॥

पूर्वोक्त जिस कीसी छन्द के यदि छः अक्षरो का कोई सा पाद तो उसे कुकुद्मती समझना ॥ ५६ ॥

वित्तं मे अस्य रोदसी (५) । (ऋ० सं० १।७।२२।३)

(६) त्रिष्टुभो यथा—

विधुं दद्राणं समने बहूनाम्(१) युवानं सन्तं पलितो जगार (२)

देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्यामार(३) स ह्यः समान(४) ॥ (तै० आ० .४।२०।३)

(७) जगत्या मृग्यम् ।

त्रिपाद्णिष्ठमध्या पिपीलिकमध्या ॥ ५७ ॥

यदाद्यन्तौ पादौ बह्वक्षरौ, मध्यमोऽल्पतराक्षरः तदाणिष्ठमध्या सती 'पिपीलिकमध्या' नाम भवति। अयमर्थः—आद्यन्तौ पादावष्टाक्षरौ, मध्यमस्त्र्यक्षरः, एवं त्रिपाद्गायत्री 'पिपीलिकमध्या' नाम भवति। एवं चतुरक्षरे पञ्चाक्षरेऽपि मध्यमे पादे पिपीलिकमध्या सिद्ध्यति। यत्किञ्चित्त्रिपाच्छन्दो लघुमध्यमपादं तत्सर्वं पिपीलिकमध्यमुच्यते ॥ ५७ ॥

जिस छन्दके आदि और अन्तके पाद बहुत अक्षरोंसे युक्त हों और मध्य का पाद स्वल्प अक्षरोंसे युक्त हो, तो इस प्रकारकी गायत्रीको पिपीलिकमध्या कहते हैं। स्पष्टार्थ इस प्रकार है-जिस छन्दके आदि और अन्तके पाद आठ आठ अक्षरोंके हों और मध्यका पाद तीन अक्षरोंका हों इस प्रकारकी त्रिपाद् गायत्रीको पिपीलिकमध्या कहते हैं। इसीप्रकार जिस छन्दमें मध्यका पाद चार या पांच अक्षरोंका हो तो उसकी भी 'पिपीलिकमध्या' संज्ञा होती है। केवल गायत्रीके लिये ही यह नियम नहीं हैं किन्तु कोई भी त्रिपाद् छन्द क्यों न हो यदि उस त्रिपाद छन्दमें बीचका पाद कम अक्षरोंका होगा तो उसकी भी पिपीलिकमध्या संज्ञा होगी ॥ ५७ ॥

विपरीता यवमध्या ॥ ५८ ॥

आद्यन्तौ पादा लघ्वक्षरौ, मध्यमश्च बह्वक्षरः, सा गायत्री 'यवमध्या' नाम भवति। एवमुष्णिगादिष्वपि योज्यम् ॥ ५८ ॥

जिस छन्दके आदि और अन्तके पादमें अल्प अक्षर हों एवं मध्यके पादमें यदि बहुत अक्षर हों तो उसे 'यवमध्या' कहते हैं। इसी प्रकार उष्णिक् आदि छन्दोंमें भी मध्यका पाद यदि बहुत अक्षरोंसे युक्त हो, तो उनकी भी 'यवमध्या' संज्ञा होती है ॥ ५८ ॥

ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ ॥ ५९ ॥

चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री एकेनाक्षरेण न्यूनेन सा 'निचृत्' इति विशेषसंज्ञां लभते। एकेनाधिकेन 'भुरिक्' इति। एवमुष्णिगादिष्वपि द्रष्टव्यम् ॥ ५९ ॥

चौबीस अक्षरकी गायत्रीमें यदि एक अक्षर कम हो (अर्थात् तेईस अक्षर

हो) तो उसकी 'निचृत्' संज्ञा होती है और उसी चौबीस अक्षरकी गायत्रीमें यदि एक अक्षर अधिक हो (अर्थात् पचीस अक्षर हो) तो उसकी 'भुरिक्' संज्ञा होती है। इसी प्रकार उष्णिक् आदि छन्दोंमें भी समझना चाहिये ॥ ५९ ॥

द्वाभ्यां विराट्-स्वराजौ ॥ ६० ॥

'ऊनाधिक' ग्रहणमनुवर्तते। द्वाभ्यामक्षराभ्यां न्यूनाधिकाभ्यां गायत्री यथाक्रमं विराट्-संज्ञा भवति। एवमुष्णिगादिष्वपि द्रष्टव्यम् ॥ ६० ॥

जिस गायत्री छन्दमें दो अक्षर कम अथवा दो अक्षर अधिक हों तो उसकी क्रमशः विराट् और स्वराट् संज्ञा होती है। आर्षी गायत्रीमें २४ अक्षर होते हैं। यदि २२ अक्षरकी गायत्री देख पड़े तो उसे 'विराट् गायत्री' समझना और यदि २६ अक्षर देख पड़े तो उसे स्वराट् गायत्री समझना। इसीप्रकार उष्णिक् आदि छन्दोंमें भी अक्षरोंकी कमी और अधिकतासे विराट् और स्वराट्का ज्ञान करलेना चाहिये ॥ ६० ॥

आदितः (*)सन्दिग्धे ॥ ६१ ॥

यदा षडविंशत्यक्षरं छन्दो भवति, तदा किं प्रतिपत्तव्यम् ?। किं गायत्री स्वराड् ? उतोष्णिग्विराड् ? इति। एवं सन्दिग्धे सति छन्दस्यादिभूतात् पादान्निर्णयः कर्त्तव्यः। यदि प्रथमः पादो गायत्र्या-स्तदा गायत्र्येवासौ। अथोष्णिहस्तदोष्णिग् इति। एवं सर्वत्र ॥ ६१ ॥

जब किसी छन्दमें छब्बीस अक्षर हों तो क्या उसे 'स्वराड् गायत्री' समझना चाहिये या 'विराड् उष्णिक्' ? क्यों कि पहिले सूत्रमें कहा गया है कि किसी छन्द में यदि दो अक्षर बढ़ जायं तो उसे स्वराट् और दो अक्षर घट जायं तो उसे विराट् समझना चाहिये। जैसे चौबीस अक्षरोंकी आर्षी गायत्रीमें यदि दो अक्षर और बढ़ जायं (अर्थात् छब्बीस अक्षर हो जायं) तो वह स्वराट् गायत्री हो जाती है। इसीप्रकार (२८) अक्षरोंका आर्षी उष्णिक् छन्द होता है यदि उसमें

(*) भवत्येव संशये छन्दसां दैवतेनाध्यवसायः, यथा-'तव स्वादिष्ठा'-(ऋ० सं० ३।५।१०।५) 'शिवा नः सख्या'-(म० सं० ३।५।१०।८) इत्यनुष्टुबुष्णिहोर्मध्ये 'घृतं न पूतं' (ऋ० सं० ३।५।१०।६०) इति षड्विंशत्यक्षरे द्वे=ऋचौ दैवतेन स्वराजौ गायत्र्यावध्यवसीयेते, नार्षीविराजावुष्णिहौ।" इतिऋक्प्रातिशाख्यव्याख्यायामुव्वटः।

दो कम हो जायं तो उसकी 'विराट् उष्णिक्' संज्ञा होगी । अब छब्बीस अक्षरके छन्द होनेसे उसकी स्वराट् गायत्री संज्ञा होगी । अथवा विराट् उष्णिक् संज्ञा होगी। ऐसे स्थलपर सन्देह होता है। उन सन्दिग्ध स्थलोंमें छन्दोंका निश्चय होना असम्भव है। इसीलिये इस सूत्रमें उसीका उपाय कहा जारहा है। यदि ऐसा स्थल मिल जायतो वहांपर प्रारम्भका पाद देखकर व्यवस्था करना चाहिये। यदि प्रारम्भका पाद गायत्रीका हो तो उसे गायत्री समझना और यदि प्रारम्भका पाद उष्णिक्का हो तो उसे उष्णिक् ही समझना। इसी प्रकार सब जगह जान लेना चाहिये।

मेरे विचरसे ऐसे स्थलों पर जहां कि 'स्वराट् गायत्री' या 'विराट् उष्णिक्' का सन्देह होता हो वहां पर प्रारम्भका पाद देखकर निर्णय करना असम्भव है क्यों कि दो गायत्रीके पाद और एक जगतीका पाद जहां पर हो उसे उष्णिग् कहा गया है (देखो ३।१८) उष्णिक् छन्दके आदि पादमें भी गायत्रीका पाद हो सकता है। इस लिये यह नियम इनके अतिरिक्त (*)स्थलोंमें ही मान्य होगा ॥६१॥

देवतादितश्च ॥ ६२ ॥

इदमपरं निर्णयनिमित्तमुच्यते । सन्दिग्धे छन्दसि देवतादेश्च निर्णयः कर्तव्यः । 'आदि' ग्रहणं स्वरादिपरिग्रहार्थम् ॥ ६२ ॥

सन्दिग्धस्थलोंमें निर्णयकेलिये दूसरा उपाय भी कहा जारहा है। जिस छन्दमें छब्बीस अक्षरोंको देखकर सन्देह होता है। कि यह स्वराट् गायत्री है या विराट उष्णिक्, वहां पर देवता देखकर निर्णय कर लेना चाहिये। जैसे गायत्रीका अग्नि देवता है और उष्णिक्का सविता। इसलिये यदि अग्निदेवताका विधान मिलता हो तो उसे गायत्री छन्द यदि सविताका उल्लेख हो तो उसे उष्णिक् छन्द समझना चाहिये। किस छन्दका कौन सा देवता है यह आगे के सूत्रमें कहा जायगा। आदि पदसे स्वरोंका भी ग्रहण होता है ॥ ६२ ॥

कस्य छन्दसः का देवता, तथा निर्णयः कर्तव्यः इत्यपेक्षायामिदमुच्यते ।

अग्निः सविता सोमो बृहस्पतिर्मित्रावरुणाविन्द्रो विश्वेदेवा देवताः ॥ ६३ ॥

(*) यथा (यो अग्नीषोमा हविषा सपर्याद् देवद्रीचा मनसा यो घृतेन (२) तस्य व्रतं रक्षतं पातमंहसो (३) विशेजनाय महि शर्म यच्छतम् (४) (ऋ० सं० १।९३।९।२)

गायत्र्यादीनां जगतीपर्यन्तानां यथाक्रममग्न्यादयो देवता वेदितव्याः। तत्र सन्दिग्धे छन्दसि यदाग्नेयं, तदा गायत्री। यदि सावित्रं, तदोष्णिग्। एवं सर्वत्र। वैदिकेष्वेव छन्दःसु निचृद्भुरिजौ, तथा विराट्स्वराजौ च दृश्येते; न लौकिकेषु। अतो लौकिकेषु सन्देहाभावात्तन्निर्णयनिमित्तभूता देवतादयो नेष्यन्ते ॥ ६३ ॥

पहिले कहा गया है कि देवताओंको देखकर छन्दोंका निर्णय करना चाहिये परन्तु कौनसे छन्दका कौन सा देवता होता है यह नहीं कहा गया है इस सूत्र में वही कहा जा रहा है।

गायत्रीसे लेकर जगती पर्यन्त जो सात छन्द हैं गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती इन छन्दोंके क्रमशः अग्नि, सविता, सोम, बृहस्पति, मित्रावरुण, इन्द्र और विश्वदेव देवता होते हैं। जैसे गायत्री का अग्नि, उष्णिक्का सविता, अनुष्टुप्का सोम, बृहतीका बृहस्पति, पङ्क्तिका मित्रावरुण, त्रिष्टुप्का इन्द्र और जगतीका विश्वदेव देवता होता है। अतः किसी मन्त्रका अग्नि देवता है तो गायत्री छन्द और सविता देवता है तो उष्णिक् छन्द है ऐसा समझना चाहिये। इसीप्रकार और भी समझना।

स्वराट् विराट् आदि भेद वैदिक् छन्दोंमें ही होते हैं लौकिक छन्दोंमें ये भेद नहीं होते। इसलिये लौकिक छन्दोंमें सन्देह न होने के कारण उनमें देवता का उपयोग नहीं है ॥ ६३ ॥

स्वराः षड्जादयः ॥ ६४ ॥

षड्जर्षभगान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-निषादाः स्वरा गायत्र्यादिषु क्रमेण द्रष्टव्याः ॥ ६४ ॥

गायत्री प्रभृति सात प्रकारके छन्दोंके षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद ये सात स्वर क्रमशः होते हैं। गायत्रीका षड्ज, उष्णिक्का ऋषभ, अनुष्टुप्का गान्धार, बृहतीका मध्यम, पङ्क्तिका पञ्चम, त्रिष्टुप्का धैवत और जगतीका निषाद स्वर होता है।

यदि किसी स्थल पर स्वराट् और विराट् दोनोंका सन्देह हो तो वहां पर स्वर देखकर भी निर्णय किया जा सकता है। जैसे (२६) अक्षरोंके छन्दमें यह सन्देह हो रहा है कि यह स्वराट् गायत्री है या विराट् उष्णिक, वहां पर

यदि षड्ज स्वरका उल्लेख पाया जाता है तो गायत्री समझना चाहिये और ऋषभ स्वर का यदि उल्लेख पाया जाता हो तो उष्णिक् छन्द समझना ॥६४॥

सितसारङ्गपिशङ्गकृष्णनीललोहितगौरा वर्णाः ॥ ६५ ॥

गायत्र्यादिषु क्रमेण वर्णा वर्णनिर्णयनिमित्तमभिधीयन्ते ॥ ६५ ॥

गायत्री प्रभृति सातो छन्दके वर्ण भी सात प्रकारके होते हैं। वह इस प्रकार है, सित, सारङ्ग, पिशङ्ग, कृष्ण, नील, लोहित और गौर ॥ ६५ ॥

आग्निवेश्यकाश्यपगौतमाङ्गिरसभार्गवकौशिक-वासिष्ठानि गोत्राणि ॥ ६६ ॥

गायत्र्यादीनां क्रमेणैतानि गोत्राणि भवन्तीति वाक्यशेषः । अत्र 'रोचनाभाः कृतयः, श्यामान्यतिच्छन्दांसि', इत्येवमादिकमधीयते छान्दसाः । (*)तन्नोपपद्यते । कृतीनामतिच्छन्दसां च निचृद्भुरिजौ

(*) तन्नोपपद्यत इत्येव नोपपद्यते 'द्वाभ्यां (पि० सू ३।६०) इत्यस्योपलक्षणार्थत्वेन न्यूनाधिकेष्वतिच्छन्दःसु स्वराट् विराजोः प्रवेशसम्भवेन तत्रापि निर्णायकान्तरापेक्षासत्वात् ।

एतत्सूत्रत्रयस्यागेऽपि प्रत्यध्यायसमाप्तिज्ञापकेति
शब्दाभावेनात्र तृतीयाध्याय समाप्त्यनिश्चयात् ।
अविच्छिन्नवैदिकाध्ययनपरम्परया गोरचना भाः
कृतयो ह्यतिच्छन्दों हि श्यामलम्' (३३०।२२)

इत्यग्निपुराणेऽनुगददर्शनेन चास्य वाक्यस्य प्रामाणिकत्वनिश्चयेनानुपेक्ष्यमाणत्वाच्चेति दिक्।

अत्रेदं बोध्यं—शुक्लमुच्चं विजनीयान्नीचं लोहितमेव च ।
श्यामं तु स्वरितं विद्यात् अग्निरूपस्य देवता ॥
नीचे सोमं विजानीयात् स्वरिते सविता भवेत् ।
उदात्तं ब्राह्मणं विद्यान्नीचं क्षत्रियमेव च ॥
वैश्यं तु स्वरितं विद्यादुदात्तं तु भारद्वाजम् ।
नीचं गौतममित्याहुर्गार्ग्यं तु स्वरितं विदुः ॥

विद्यादुदात्तां गायत्रीं नीचं त्रैष्टुभ मेव च । जागतं स्वरितं विद्यादेवमेव नियोगतः ।

"गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ताः सप्त षड्जादयः स्वराः
त एव वेदे विज्ञेयास्तथा उच्चादयः स्वराः ॥
उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमधैवताः ॥"

इति याज्ञवल्कीयशिक्षोक्तेस्त्रिष्टुभो लोहितो वर्णः, सोमो देवता—ऋषभधैवतौ स्वरौ, गौतम=

विराट् स्वराजोश्च प्रदेशाभावात् कश्चिन्नास्ति संशयः। यस्य निर्णयनिमित्तं वर्णोपन्यासः क्रियते, तदपि ऋषिदेवतास्वरवर्णानां ज्ञानान्निःश्रेयसमिच्छन्ति छान्दसाः ॥ ६६ ॥

इति भट्टहलायुधकृतायां छन्दोवृत्तौ तृतीयोऽध्यायः।

गायत्री आदि सातों छन्दके सात प्रकारके गोत्र भी होते हैं जैसे गायत्रीका आग्निवेश्य, उष्णिक्का काश्यप, अनुष्टुप्का गौतम, बृहतीका आङ्गिरस, पङ्क्तिका भार्गव, त्रिष्टुप्का कौशिक, जगतीका वाशिष्ठ।

वैदिक लोग 'रोचनाभाः कृतयः श्यामान्यतिच्छन्दांसि' ऐसा पढ़ते हैं। उनका तात्पर्य है कि चतुर्थाध्यायमें वर्णित कृति और अति छन्दोंका क्रमशः रोचन की तरह काला रंग होता है ऐसा वैदिकोंका कहना ठीक नहीं, क्योंकि कृति और अति छन्दसोंका ऐसा कोई अवसर नहीं आता जिसमें स्वराट् और विराट् दोनोंका सन्देह हो। जब सन्देह ही न हो तो वहां निर्णय की आवश्यकता ही क्या। गायत्री आदि छन्दोंके जो वर्ण कहे गये हैं केवल सन्दिग्ध स्थलोंमें निर्णय करनेके लिये।

तब सन्देह मिटानेकेलिये उनकी आवश्यकता न होने पर भी ऋषि, देवता, स्वर और वर्णोंके ज्ञानसे मोक्षप्राप्ति रूप फल उन्होंने स्वीकार किया है ॥ ६६ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः।

चतुःशतमुत्कृतिः ॥ १ ॥

चतुरधिकं शतं चतुःशतम्। मध्यमपदलोपी समासः। अथवा चत्वारि च शतं च चतुःशतम। द्वन्द्वसमासः। कर्मधारयस्तु नेष्यते। तत्र चतुःशतानीति प्राप्नोति। यत्र चतुःशतमक्षराणां संख्या भवति, तत् (*)'उत्कृतिः' नाम छन्दः। यथा—

'छागस्य हविष आत्तामद्य (१) मध्यतो मेद उद्भृतं (२) पुरा

ऋषिः। जगत्याः श्यामो वर्णः, सविता देवता, षड्जमध्यमपञ्चमाः, स्वराः, ।गार्ग्य=ऋषिरित्यादिभिः पिङ्गलोक्तं यद्वैमत्यं दृश्यते तत् शाखाभेदेन परिहरणीयम्।

इति तृतीयोऽध्याय ॥ ३ ॥

(*) उत्कृत्यादीनां छन्दसामुदाहरणानि श्रीमता हलायुधभट्टेन न प्रदर्शितानि। सर्वोपकृतये मया तानि न्यक्षेण वृत्तिमध्ये निवेशितानि।

द्वेषोभ्यः (३) पुरा पोरुषेय्या गृभो (४) घस्तां नूनं (५) घासे अज्रा-णां यवसप्रथमानां (६) सुमत्क्षराणां शतरुद्रियाणाम् (७) अग्नि-ष्वात्तानां पीवोपवसनानां (८) पार्श्वतः श्रोणितः (९) शितामतः उत्सा-दतः (१०) अङ्गादङ्गादवत्तानां (११) करत एवाश्विना (१२) जुषेतां हविः (१३) ॥'

(शुक्लयजुर्वेदे-अ० २१ मं० ४३) ॥ १ ॥

जिस छन्द में एकसौ चार अक्षर हों उसे 'उत्कृति नाम का छन्द कहते हैं ॥१॥

चतुरश्चतुरस्त्यजेदुत्कृतेः ॥ २ ॥

चतुःशताक्षराच्छन्दसः क्रमेण चतुरश्चतुरः संख्याविशेषांस्त्य-जेत्। एतदुक्तं भवति -उत्कृतेरारभ्य चतुर्भिश्चतुर्भिरक्षरैर्न्यूनानि छन्दां-स्यन्यानि स्थापयेत्, अष्टाचत्वारिंशदक्षरं यावत् ॥ २ ॥

उत्कृतिसे लेकर चार चार अक्षरोंको घटाते हुए दूसरे छन्दोंकी (४८) अक्षर तक रखना चाहिये ॥ २ ॥

तान्यभिसंव्याप्रेभ्यः कृतिः ॥ ३ ॥

तान्युत्कृतेरनन्तराणि छन्दांसि अभि-सं-वि-आङ्-प्र इत्येतेभ्यः पराणि 'कृति' संज्ञानि भवन्ति। तत्र शताक्षरं छन्दः 'अभिकृतिः'। यथा–

'देवो अग्निः स्विष्टकृत् (१)। देवान्यक्षद्यथायथम् (२)। होतायरा-विन्द्रमश्विना (३)। वाचा वाचँ सरस्वतीम् (४)। अग्निँ सोमँ स्विष्टकृत् (५)। स्विष्ट इन्द्रः सुत्रामा (६)। सविता वरुणो भिषक् (७)। इष्टो देवो वनस्पतिः (८)। स्विष्टा देवा आज्यपाः (९)। इष्टो अग्निरग्निना (१०)। होता होत्रे स्विष्टकृत् (११)। यशो न दध-दिन्द्रियम् (१२)। ऊर्जमपचिति स्वधाम् (१३) ॥'

(तैत्तिरीयब्राह्मणे-अ० २ प्र० ६ अ० १४ मं० ११)

षण्णवत्यक्षरं संकृतिः। यथा--

'देवो अग्निः स्विष्टकृत् (१) सुद्रविणा मन्द्रः कविः (२)। सत्य-मन्मा यजो होता (३)। होतुर्होतुरायजो यान् (४)। अग्ने यान् देवा-नयाट् (५)। याँ अपि प्रेः (६) येते होत्रे अमत्सत (७)। ताँ सस-नुषोँ होत्रां देवंगमां (८) दिवि देवेषु यज्ञमेरयेमम् (९)। स्विष्टकृच्चाग्ने होताभूः (१०)। वसुवने वसुधेयस्य नमो वाके वीहि (११) ॥'

(तैत्तिरीयब्राह्मणे--अ० ३ अ० ६ अ० १४ मं० १)

द्वानवत्यक्षरं विकृतिः । यथा—

'इमे सोमाः सुरामाणः (१) । छागैर्न मेषैर्ऋषभैः सुताः (२) । शष्पैर्न तोकमभिः (३) । लाजैर्महस्वन्तः (४) । मदा मासरेण परिष्कृताः (५) । शुक्राः पयस्वन्तोऽमृताः (६) । प्रस्थिता वो मधुश्चुतः (७) । तानश्विना सरस्वती (८) । इन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा (९) । जुषन्ताꣳ सोम्यं मधु (१०) । पिबन्तु मदन्तु वियन्तु सोमम् (११) ॥'

(तैत्तिरीयब्राह्मणे-अ० २ प्र० ६ अ० ११)

अष्टाशीत्यक्षरमाकृतिः यथा—

'तच्चक्षुर्देवहितं (१) पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् (२) । पश्येम शरदः शतं (३) जीवेम शरदः शतं (४) नन्दाम शरदः शतं (५) मोदाम शरदः शतं (६) भवाम शरदः शतꣳ (७) शृणवाम शरदः शतं (८) प्रब्रवाम शरदः शतं (९) मजीताः स्याम शरदः शतं (१०) जोक्च सूर्यं दृशे ॥'

(तैत्तिरीयारण्यके—प्र० ४ अ० ४२ मं० २२)

चतुरशीत्यक्षरं प्रकृतिः । यथा—

'अग्निश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः (१) । पापेभ्यो रक्षन्ताम् (२) । यदह्ना पापमकार्षम् (३) । मनसा वाचा हस्ताभ्याम् (४) । पद्भ्यामुदरेण शिश्ना (५) । अहस्तदवलुम्पतु (६) । यत्किञ्च दुरितं मयि (७) । इदमहं माममृतयोनौ (८) । सत्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा (९) ॥'

(तै० आ० प्र० १० अ० २४) ॥ ३ ॥

उत्कृतिके अनन्तर कृति शब्दके पूर्व अभि, सम, वि, आङ् और प्र इन पांच उपसर्गोंको मिलादेनेसे जो शब्द बनते हैं उन्हीं पांच नामके पांच छन्द होते हैं । उनकी 'कृति' संज्ञा है क्यों कि इसी कृतिके पूर्व ही इन पांच उपसर्गों के लग जानेसे पांच प्रकारका भेद हो जाता है । जैसे अभिकृति, संकृति, विकृति, आकृति और प्रकृति ।

अर्थात् पूर्व नियम के अनुसार (१०४) से पांच संख्या (प्रकृति) तक चार चार अङ्कों के घटाते जानेसे जो जो संख्या निकलती जायगी वही अक्षरोंकी संख्या उस छन्दकी समझना चाहिये । जैसे—

उत्कृतिकी अक्षर संख्या १०४ है

इनमें (४) चार अङ्क घटा देनेसे अभिकृतिकी संख्या निकल आती है देखिए—

उत्कृति १०४—४=१०० अभिकृति ॥ १ ॥
अभिकृति १००—४=९६-संकृति ॥ २ ॥
संकृति ९६—४=९२—विकृति ॥ ३ ॥
विकृति ९२—४=८८—आकृति ॥ ४ ॥
आकृति ८८—४=८४—प्रकृति ॥ ५ ॥ ३ ॥

प्रकृत्या चोपसर्गैर्वर्जितः ॥ ४ ॥

उपसर्गेण वर्जितः शुद्धः कृतिशब्दः प्रकृत्या स्वरूपेणैवावतिष्ठते । तेनैतदुक्तं भवति-अशीत्यक्षरं छन्दः 'कृति' नाम । यथा —

'देव इन्द्रो नराशंस (१) स्त्रिवरूथस्त्रिबन्धुरो (२) देवमिन्द्रमवर्धयत् (३)। शतेन शितिपृष्ठानामाहितः (४) सहस्रेण प्रवर्तते (५) मित्रावरुणेदस्य होत्रमर्हतो (६) बृहस्पतिः स्तोत्र (७) मश्विनाध्वर्यवं (८) वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज (९) ॥'

(शुक्लयजुर्वेद—अ० २८ मं० १९) ॥ ४ ॥

उपसर्गरहित शुद्ध कृति शब्दकी स्वाभाविक रूपसे स्थिति रहेगी (अर्थात् जिस छन्दमें (८०) अक्षर हों उसकी 'कृति' संज्ञा होती है।) पहिले (८४) अक्षरों को 'प्रकृति' कही गयी है। अब इनमें (सू. ४।२) सूत्रके अनुसार (४) घटादेनेसे जो अङ्क शेष रहता है (अर्थात् (८०) अङ्क) यही 'कृति' छन्द की अक्षर संख्या है।४।

धृत्यष्टिशक्करीजगत्यः ॥ ५ ॥

कृतेरधस्ताद्धृतिरष्टिः शक्करी जगतीत्येते शब्दाः क्रमेण व्यवस्थापनीयाः ॥ ५ ॥

'कृति' शब्दके नीचे धृति, अष्टि, शक्करी और जगती इन शब्दोंको यथाक्रमसे लिखना चाहिये। कुछ लोग इस सूत्रका अर्थ कहते है कि—कृति शब्दके अनन्तर धृति, अष्टि, शक्करी और जगती कहे जायेगें। परन्तु मेरी समझमें 'अधस्तात्' और 'व्यवस्थापनीयाः' इन दोनों शब्दोंसे और (४।२) सूत्रकी वृत्तिमें भी (छन्दांस्यन्यानि स्थापयेत्) इस स्थापन शब्दसे 'उत्कृति' से लेकर जगती पर्यन्त एक पङ्क्ति बनाकर समझाना चाहिये। जिसमें उत्कृतिसे लेकर जगती पर्यन्त (१०४) में से क्रमशः चार चार अङ्क घटाते हुए एकके नीचे दूसरा इसीप्रकार रखना चाहिये ॥ ५ ॥

पृथक्पृथक्पूर्वत एतान्येवैषाम् ॥ ६ ॥

एषांधृत्यादीनां पूर्वतः पृथक्पृथगेतान्येव शब्दरूपाणि विन्यसेत्। पृथक्पृथग्ग्रहणं प्रत्येकं पूर्वत्वज्ञापनार्थम् अन्यथा हि समुदायपूर्वत्वमेषां स्यात्। तेनायमर्थः—धृतिशब्दात् पूर्वं धृतिशब्दः, अष्टिशब्दात्पूर्वमष्टिशब्दः शक्वरीशब्दात्पूर्वं शक्वरीशब्दः, जगतीशब्दात् पूर्वं जगतीशब्दः ॥ ६ ॥

पहिले सूत्रमें कहा गया है कि एक पङ्क्ति बना कर क्रमशः प्रकृतिके नीचे धृति, उसके नीचे अष्टि, उसके नीचे शक्वरी, और उसके नीचे जगती शब्द लिखना चाहिये। अब इस सूत्रमें कहा जारहा है कि पङ्क्तिमें लिखित धृति आदि शब्दके पूर्व दूसरा धृति आदि शब्द लिखना चाहिये। जैसे धृति शब्दसे पूर्व 'धृति' अष्टि शब्द से पूर्व 'अष्टि' शक्वरी शब्द से पूर्व 'शक्वरी' और जगती शब्द से पूर्व 'जगती' शब्द ॥ ६ ॥

द्वितीयं द्वितीयमतितः ॥ ७ ॥

अत्र द्वितीयं द्वितीयं शब्दरूपमतिशब्दात्परतः प्रयोक्तव्यम्। एवं सत्युत्तरेषां छन्दसामेताः(*) संज्ञाः क्रमेण भवन्ति। तत्र षट्सप्तत्यक्षरा अतिधृतिः। यथा—

'स हि शर्धो न मारुतं तुविष्वणि (१) रप्नस्वतीषूर्वरास्विष्टनि (२) रार्तनास्विष्टनिः (३)। आदद्धव्यान्यादादि (४) र्यज्ञस्य केतुरर्हणा (५)। अध स्मास्य हर्षतो हृषीवतो (६) विश्वे जुषन्त पन्थां (७) नरः

(*) कात्यायनोक्तः पादनियमो यथा—

पादा अतिजगत्यास्तु त्रयो द्वादशकाः परौ।
अष्टकौ शक्वरीपादाः सप्तैवाष्टाक्षराः स्मृताः ॥
अष्टिशर्करपादौ द्वौ कर्तव्यौ षोडशाक्षरौ।
जागतोऽथाष्टकौ चाष्टिपादाः षोडशकास्त्रयः ॥
अष्टकौ चात्यष्टिपादौ जागतौ चाष्टकास्त्रयः।
जागतश्चाष्टमाश्चाथधृतिपादौ तु जागतौ ॥
पादास्त्रयोऽष्टकाश्चाथ षोडशाक्षर एव च।
अष्टकश्चाथातिधृतौ द्वौ पादौ जागतौ ततः।
त्रयोऽष्टका जागतश्च तथाष्टाक्षरकावपि। इति।

शुभेन पन्थाम् (८) ॥' (ऋग्वेदे-अ० २ क० १ व० १३ मं १)

द्वासप्तत्यक्षरा धृतिः। यथा—

'अवमह इन्द्र दादृहि श्रुधी नः (१) शुशोच हि द्यौः क्षा न भीषाँ अद्रिवो (२) घृणान्न भीषाँ अद्रिवः (३) शुष्मिन्तमो हि शुष्मिभि (४) र्वधैरुग्रेभिरीयसे (५)। अपूरुषघ्नो अप्रतीत शूर सत्वभि (६) स्त्रिसप्तैः शूरसत्वभिः (७) ॥' (ऋग्वेदे-अ० २ अ० १ व० २२ मं० ६)

अष्टषष्ट्यक्षरा अत्यष्टिः। यथा—

'अदर्शि गातुरुरवे वरीयसी (१) पन्था ऋतस्य समयंस्त रश्मिभि (२) श्चक्षुर्भगस्य रश्मिभिः (३)। द्युक्षं मित्रस्य सादन (४) मर्यम्णो वरुणस्य च (५)। अथा दधाते बृहदुक्थ्यं वय (६) उपस्तुत्यं बृहद्वयः (७) ॥' (ऋग्वेदे-अ० २ अ० १ व० २६ मं २)

चतुःषष्ठ्यक्षरा अष्टिः। यथा—

'त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं (१) तुविशुष्मस्तृपत्सोममपिब (२) द्विष्णुना सुतं यथावशत् (३)। स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरं (४) सैनं सश्चद्देवो देवं (५) सत्यमिन्द्रं सत्य (*)इन्दुः (६) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० २ अ० ६ व० २८ मं० १)

षष्ट्यक्षरा अतिशक्वरी। यथा—

'साकं जातः क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ (१) साकं वृद्धो वीर्यैः सासहिर्मृधो विचर्षणिः (२)। दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु (३) सैनं सश्चद्देवो देवं (४) सत्यमिन्द्रं सत्य (†)इन्दुः (५) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० २ अ० ६ व० २८ मं० ३)

षट्पञ्चाशदक्षरा शक्वरी। यथा—

'प्रो ष्वस्मै पुरोरथ (१) मिन्द्राय शूषमर्चत (२)। अभीके चिदु लोककृत् (३) सङ्गे समत्सु वृत्रहा (४) ऽस्माकं बोधि चोदिता (५) नभन्तामन्यकेषाम् (६) ज्याका अधि धन्वसु(‡) (७) ॥'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ७ व० २१ मं० १)

द्विपञ्चाशदक्षरा अतिजगती। यथा—

'स भ्रातरं वरुणमग्न आ ववृत्स्व (१) देवाँ अच्छा सुमती यज्ञवनसं (२) ज्येष्ठं यज्ञवनसम् (३) ऋतावानमादित्यं चर्षणीधृतं (४) राजानं चर्षणीधृतम् (५) ॥' (ऋग्वेदे-अ० ३ अ० ४ व० १२ मं० २)

(*) (†) (‡) एषु व्यूहान्न्यूनता परिहार्या।

अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती । यथा—

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमूतये(१)मारुतं शर्धो अदितिं हवामहे (२)। रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो (३) विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन (४)॥' (ऋग्वेदे-अ० १ अ० ७ व० २४ मं० १)॥ ७॥

इति भट्टहलायुधकृतायां छन्दोवृत्तौ चतुर्थाध्याये
वैदिकच्छन्दःप्रकरणं समाप्तम् ।

पूर्व सूत्रके अनुसार दोहराया गया जो धृति आदि शब्द (अर्थात् धृति आदि शब्दोंके पूर्व पङ्क्तिमें लिखे गये जो धृति आदि शब्द) उनके आगे अति शब्द लख देना चाहिये। जैसे धृति शब्दसे पूर्व जो धृति शब्द लिखा गया है उसके आगे अति शब्द लिख देने पर (अति धृति) शब्द बन जाता है। उसी प्रकार अष्टि शब्दसे पूर्व लिखा गया जो अष्टि शब्द है उसके आगे अति शब्द लिख देनेसे 'अत्यष्टि'। इसी प्रकार 'शक्करी' (अति शक्करी,) 'जगती' (अति जगती) आदि शब्दोंको पङ्क्तिमें एकके नीचे दूसरे लिखते जाना चाहिये। पीछे प्रत्येक शब्दके अनन्तर चार चार अङ्क घटाकर जो अङ्क अवशिष्ट रहता है उसे रखते जाना चाहिये। वृत्तिकारके कथनानुसार सबको समझानेके लिये एक पङ्क्ति बनाकर नीचे दी जाती है। उसीसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिये ॥ ७॥

इति सान्यालोपाह्व श्रीअयोध्यानाथशास्त्रिविरचितायां कादम्बिन्याख्यभाषा
टीकायां चतुर्थाध्याये वैदिकच्छन्दःप्रकरणं समाप्तम् ।

अथोत्कृत्यादि छन्दसामक्षरसंख्याबोधिका पंक्तिः ।

छन्दःसंख्या	छन्दोनाम	अक्षर संख्या	छन्दःसंख्या	छन्दोनाम	अक्षर संख्या
१	उत्कृतिः	१०४	८	धृतिः	७२
२	अभिकृतिः	१००	९	अत्यष्टिः	६८
२	संकृतिः	९६	१०	अष्टिः	६४
३	विकृतिः	९२	११	अतिशक्करी	६०
४	आकृतिः	८८	१२	शक्करी	५६
५	प्रकृतिः	८४	१३	अतिजगती	५२
६	कृतिः	८०	१४	जगती	४८
७	अतिधृतिः	७६			

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

मुद्रकः—विद्याविलास प्रेस, बनारस सिटी। १......

रामवनगमनम्

सटिप्पण-सान्वय-सुधा-इन्दुमती-चतुष्टयप्लावितम्

याद रखिये सन ४८ की नवीन नियमावलीके अनुसार निर्णयसागर प्रेससे प्रकाशित वाल्मीकिरामायणके मूलाधार पर यही एक विशुद्ध प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसकी प्रथम परीक्षोपयोगी'सुधा' टीकामें अन्वय, पर्याय, समास, कोश तथा ग्रन्थोपक्रमसे टिप्पणीमें पौराणिक कथायें भी दी गयी हैं जो कि परीक्षामें प्रश्न आने योग्य है और अन्य किसी भी संस्करणमें इसका उल्लेख नहीं किया गया है। एवं सुधा टीकाके साथ साथ 'इन्दुमती' नामकी विस्तृत भाषा टीकामें श्लोकोंके गूढ़ार्थ अभिप्रायोंको इस तरह सरल शब्दोंमें अभिव्यक्त कर दिया गया है कि विद्यार्थियोंको श्लोकार्थ समझनेमें प्रायः शिक्षकों की आवश्यकता नहीं ही होगी। ग्रन्थके शुरूमें प्रत्येक सर्गका परीक्षोपयोगी संक्षिप्त कथासार भी दे दिया गया है। परिष्कृत अभिनव द्वितीय संस्करण १॥।)

श्रीमहालक्ष्मीपूजापद्धतिः

सर्वदेवपूजाविधान, पूजनमीमांसा, सम्पुटित श्रीसूक्त आदि विविध परिशिष्ट युत भाषा टीका सहित।

डेढ़ सौ वर्ष पहले के प्राचीन महर्षियों द्वारा लिखित सिद्ध पुस्तक के आधार पर जो कि कठिन परिश्रम और अधिक व्यय से प्राप्त हुआ है, यह अभिनव संस्करण प्रकाशित किया गया है। जो २ सज्जन इस पद्धति के अनुसार कार्य किये हैं उन्हें आशातीत सफलता मिली है। जो पुस्तक में छपी भूमिका से सहज में ही जानी जा सक्ती है। मूल्य ॥)

महामहोपाध्याय पं० अमृतनाथ झा विरचितः—

कृत्यसारसमुच्चयः

(अभिनव परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण)

पण्डित गङ्गाधर मिश्र कृत टिप्पणी तथा परिशिष्ट से विभूषित संस्करण का इस द्वितीय संस्करण में स्थान २ पर टिप्पणी देकर परिशिष्ट में अधिकाधिक ज्ञातव्य विषय बढ़ाया गया है तथा ग्रन्थके अन्तमें तुलादानपद्धति भी देदी गई है जिससे पूर्व संस्करण की अपेक्षा यह संस्करण अधिक उपयुक्त हो गया है ३॥)

सिद्धान्तकौमुदी जेबी-गुटका

सिद्धान्तकौमुदीका ऐसा सुन्दर जेबी गुटका का मनोहर संस्करण यह प्रथम बार ही छपा है। प्रति दिन सिद्धान्तकौमुदी की आवृत्ति करना विद्यार्थियोंके लिये आवश्यक है। सुबह-शाम घूमते-फिरते समय तथा परदेश-यात्रा करते समय विद्यार्थियोंका बहुत ही समय व्यर्थमें व्यतीत होजाता है। अब जहाँ कहीं जाना हो इस संस्करण को जेबी में रख लीजिये और जब चाहें सिद्धान्तकौमुदी की आवृत्ति कीजिये। सूत्रसूची-धातुसूच्यादि परिशिष्ट सहित। ३)

सिद्धान्तकौमुदी—पं० गोपालशास्त्रीनेनेकृत परीक्षोपयोगी 'सरला' टीका तथा रूपलेखनप्रकार-पंक्तिलेखनप्रकार आदि परीक्षोपयोगी विविध परिशिष्ट सहित स्त्रीप्रत्ययान्त १॥) कारकान्त २)

प्रबन्ध-पारिजातः

इसमें परीक्षार्थी छात्रोंको संस्कृत प्रबन्ध रचना लिखने के नियम अत्यन्त सरल रूपमें समझाये गये हैं और तदनुसार परीक्षोपयोगी 'प्रबन्ध लेखनप्रकार' (परीक्षामें आने योग्य निबन्धों का उत्तर) इस तरह सरल और संक्षिप्त में लिखा गया है कि अभ्यास कर लेने पर भी विद्यार्थी परीक्षामें पूरी सफलता प्राप्त कर सकते हैं। इतना ही नहीं अन्तमें (१)'पत्र लेखन प्रकार'(चिट्ठी-पत्री, आवेदन पत्र आदिका उल्लेख) तथा प्रसंगोपयुक्त (२) 'सुभाषितगद्यावली'(३)'सुभाषितपद्यांशावली' और (४)'लौकिक न्यायमाला' आदि विषयोंका समावेश करके आधुनिक चतुरस्र विद्वान् बननेका सुगम रास्ता दिखाया गया है। विश्वास है कि आजतक के प्रकाशित प्रबन्धोपयोगी ग्रन्थों में इस 'प्रबन्धपारिजात' के समान दूसरी कोई भी पुस्तक नहीं है। शीघ्रता कीजिये कठिन परिस्थिति के कारण इसकी बहुत कम प्रतियाँ छपी हैं १।)

विदुलोपाख्यानम्

सान्वय-लीला विलास-संस्कृत-हिन्दीटीकाद्वयोपेतम्।

सन् ४८ के नवीन पाठ्यक्रमके अनुसार यह ग्रन्थ प्रकाशित किया गया है। इस ग्रन्थकी 'लीला' नामक संस्कृत व्याख्यामें अन्वय, पर्याय, समास, कोशादि देकर श्लोकोंकी अति सरल व्याख्या कर दी गयी है। साथमें 'विलास' नामकी विस्तृत हिन्दी भाषा टीका होनेसे तो इस संस्करणकी उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गयी है। प्रथमाके सुकोम-लमति विद्यार्थियोंके लिये यही एक सब संस्करण सिद्ध हो चुका है। शीघ्रता कीजिये इसकी बहुत ही कम प्रतियाँ गयी हैं। द्वितीय संस्करण ।॥)